

समकालीन हिंदी कविता में सांस्कृतिक संकट के  
विविध आयाम

(DIMENSIONS OF CULTURAL CRISIS IN  
CONTEMPORARY HINDI POETRY)

*Thesis*

*Submitted to*

**COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY**

*For the Degree of*

**DOCTOR OF PHILOSOPHY**

**In**

**Hindi**

**Under the faculty of Humanities**

*By*

**राजेश्वरी. के.**

**RAJESWARY. K.**

DEPARTMENT OF HINDI

COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY

KOCHI - 682 022

OCTOBER 2006

**DEPARTMENT OF HINDI  
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY  
COCHIN - 682 022, KERALA, INDIA**

**Prof. (Dr.) A. ARAVINDAKSHAN**  
Dean, Faculty of Humanities  
Cochin University of Science and Technology

Phone: (Off) 0484-2575954  
(Res) 0484-2424004  
Mobile: 9447667313


---

**Certificate**

This is to certify that the research work presented in the thesis entitled “**Samakalin Hindi Kavitha Mein Sanskritik Sankat Ke Vividh Aayam**” is an authentic record of research work carried out by Rajeswary. K. under my supervision at the Department of Hindi, Cochin University of Science and Technology, in partial fulfillment of the requirements for the degree of DOCTOR OF PHILOSOPHY in Hindi and that no part thereof has been included for the award of any other degree.

Place : Kochi - 22

Date : 25/10/2006

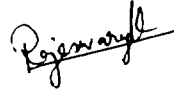
  
\_\_\_\_\_  
**Dr. A. Aravindakshan**  
Professor  
Supervising Guide

## Declaration

I hereby declare that the thesis entitled “**Samakalin Hindi Kavita Mein Sanskritik Sankat Ke Vividh Aayam**” is the bonafide report of the original work carried out by me under the supervision of Dr. A. Aravindakshan at the Department of Hindi, Cochin University of Science and Technology and no part there of has been included in any other thesis submitted previously for the award of any degree.

Place : Kochi - 22

Date : 25/10/2006



**Rajeswary. K.**

## भूमिका

समाज का सबसे अहम मूल्य मानवीयता है। वही मनुष्य को मनुष्य से जोड़ती है। इसी आपसी सरोकार के रहते समाज की असली प्रगति संभव है। ऐसे में संस्कृति की अपनी भूमिका असंदिग्ध है क्योंकि वही समाज को मानवीय संवेदनाओं से सम्पृक्त करती है। हालाँकि वर्तमान दौर में उसका लगातार विरुपीकरण हो रहा है। आपसी विश्वास, ईमानदारी, संवेदनशीलता व नैतिकता सरीखे मूल्य अपने अर्थ से अपदस्थ हो रहे हैं। इसी क्रम में मनुष्य का निरन्तर अवमूल्यन हो रहा है। हर रोज़ मनुष्य के साथ संवेदनाघात और विश्वासघात हो रहे हैं। छद्म सामाजिकता के रहते असुरक्षित हालात में दमघुटकर जीने के लिए वह अभिशप्त बनता जा रहा है। मानवीय संकट की यह स्थिति हर काल की सच्चाई रही है। संस्कृति के प्रतीकचिह्न और सबसे संवेदनशील हिस्सा होने के नाते कविता की मुख्यचिन्ता मानवीय संकट ही है। प्रत्येक काल की कविता ने अपनी दृष्टि से इसको अंकित करने का प्रयास किया है, भले ही उसकी गहराई में पर्याप्त अन्तर द्रष्टव्य हो। अतः प्रत्येक काल की कविता अपनी अलग पहचान देती आयी है।

अपने समय के मानवीय संकट के प्रति जवाबदेह होने के प्रयास में समकालीन कविता अपने आपको नये सिरे से गढ़ रही है। यह समय के अनुकूल बनने व उससे सार्थक संवाद बनाए रखने का उपक्रम है। इसी क्रम में कविता समय और समाज को आपस में जोड़ रही है। वह मानवीय

संकट के बहुआयामी स्थितियों से अवगत करा रही है, प्रतिरोध के विभिन्न धरातलों पर ले जाती है, उबरने का रास्ता भी दिखा रही है। प्रथमतः और अन्ततः मानवीय मूल्यों की स्थापना उसका परमलक्ष्य है। कविता का आस्वादन और उस पर रचना कर्म भी आखिर कर माननीयता की तलाश ही है। साहित्यिक शोध में अन्ततः यही कार्य सम्पन्न होता है। जहाँ समकालीन कविता के चुनाव का सवाल है, वह आस्वादन से जुड़ा हुआ है। समकालीन कविताओं से गुज़रते वक्त मनुष्य की सही स्थिति से अवगत होने का मौका मिल है। उसने मेरे मन को उद्वेलित किया है। इसमें कुछ कवियों का प्रभाव भी रहा है। ऐसे में समकालीन कविता के साथ संवाद स्थापित करने का आग्रह शोध कार्य के मूल में रहा है।

समकालीन सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में कविता के अध्ययन का प्रयास इसमें हुआ है। अध्ययन की सुविधा के लिए पाँच अध्यायों में विभाजित किया गया है। पहले अध्याय में समकालीन कविता के सांस्कृतिक परिदृश्य का आकलन हुआ है। इसमें संस्कृति और समाज के अन्तर्सम्बन्ध को परखने का प्रयास हुआ है। समाज की नींव होने के नाते संस्कृति की सही समझ अनिवार्य है। इसके बिना मानव विकास के सार्थक सोच में सांस्कृतिक आधारों की अनिवार्यता की पहचान धूमिल रहेगी। वर्तमान दौर में संस्कृति और समाज की पारस्परिकता को विरूपित करने वाली प्रतिगामी स्थितियों के आकलन का प्रयास भी इसमें हुआ है। यानी संस्कृति के अन्तस को तोड़ने वाले मूल कारणों व उससे जुड़ी हुई ताकतों की तलाश भी इसमें हुई है।

दूसरा अध्याय है समकालीन कविता के संवेदनात्मक विकास में आधुनिक कविता की भूमिका। समकालीन कविता का भूगोल पूर्ववर्ती काव्यधाराओं से सार्थक अंश को ग्रहण करते हुए विस्तार पाया है।

संवेदनात्मक धरातल पर कुछ भिन्नताओं को बरतने पर भी उसका प्रभाव अपने में महत्वपूर्ण है। अतः इसमें आधुनिकता और समकालीनता की पारस्परिकता को परखने, समकालीनता के खास अर्थ को ढूँढने, नयी कविता की संवेदनशीलता को आँकने व नये कवियों की रचनार्थमिता को देखने-परखने का प्रयास इसमें हुआ है।

तीसरा अध्याय सांस्कृतिक संकट सम्बन्धी कवि प्रतिक्रियाओं पर केन्द्रित है। कवियों के रोए-रेशे में मानवीय संकट सम्बन्धी चिन्ता बसी है कि कविता द्वारा संवाद बनाए रखने के बावजूद रचनात्मकता के अन्य धरातलों पर अपने को व्यंजित करने का प्रयास भी देखा जा सकता है। दरअसल कविता और आलोचनात्मक टिप्पणियों में अभिव्यक्त सांस्कृतिक संकट की बहुविध स्थितियों के साथ दर्ज कविता सम्बन्धी सौन्दर्यबोध के आकलन का प्रयास इसमें हुआ है।

चौथा अध्याय है समकालीन कविता में मनुष्य का बिम्ब। इसमें समकालीन सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में मनुष्य की सही स्थिति का आकलन पेश हुआ है। समाज के विभिन्न पहलुओं पर केन्द्रित रहते हुए समकालीन कविता के बहाने मनुष्य के यथार्थ को देखने-परखने का प्रयास इसमें हुआ है।

पाँचवाँ अध्याय समकालीन कविता के इच्छित यथार्थ की तलाश से जुड़ा हुआ है। प्रतिरोध के विभिन्न धरातलों का विश्लेषण इसमें हुआ है। मानवीय संसक्ति के व्यापक अर्थ का आकलन इसमें देखा जा सकता है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध कोच्चिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के आदरणीय गुरुवर प्रो. डॉ. अरविन्दाक्षन जी के निर्देशन

में संपन्न हुआ। उन्होंने ही मुझे कविता पर शोध करने के काबिल बनाया है। उनके बहुमूल्य सुझावों तथा प्रेरणा वर्द्धक निर्देशन से ही यह अध्ययन पूर्ण हो पाया है। उनके प्रति मैं सदैव आभारी रहूँगी।

इस शोधकार्य के संपन्न होने के पीछे कुछ विशेष व्यक्तियों की प्रेरणा और प्रोत्साहन अवश्य रहे। संस्कृत विश्वविद्यालय के आदरणीय गुरुवर डॉ. पी. रवि के प्रति मैं सदैव आभारी रहूँगी, जिनसे मुझे सोचने की प्रेरणा मिली है। इनके अलावा आदरणीय गुरुवर डॉ. वी.जी. गोपालकृष्णन के प्रति मैं सदैव आभारी रहूँगी। डॉ. के. अजिता के प्रति मैं अत्यन्त आभारी रहूँगी।

कोच्चिन विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग की अध्यक्ष प्रो. डॉ. पि.ए. षमीम अलियार के प्रति भी मैं अपना आभार प्रकट करती हूँ।

हिन्दी विभाग के सभी अध्यापकों के सलाह एवं सहयोग के प्रति मैं कृतज्ञ हूँ।

विभाग के मेरे प्रिय मित्रों को भी मैं इधर याद करती हूँ। उनके प्रोत्साहन एवं सुझाव के लिए मैं उन लोगों से विशेष आभारी हूँ। लीना, इन्दू, प्रिया, सोलजी, षीना आदि से मैं अपना प्यार प्रकट करती हूँ।

मेरे हर कदम पर प्रार्थना और प्रोत्साहन के द्वारा मेरे साथ देनेवाले माँ- बाप और भाई-बहनों से मैं सर्वथा कृतज्ञ हूँ।

सर्वोपरी मैं ईश्वर की कृपा का ऋणी हूँ।

राजेश्वरी. के.

## अनुक्रम

- अध्याय - 1 : समकालीन कविता का सांस्कृतिक परिदृश्य**  
संस्कृति और समाज **1 - 30**  
संस्कृति व परम्परा  
संस्कृति व इतिहास  
धर्म बनाम संस्कृति  
जाति संरचना - आन्तरिक उपनिवेशीकरण  
साम्प्रदायिकता - मध्यकालीन सन्दर्भ में  
साम्प्रदायिकता - उपनिवेशवादी सन्दर्भ में  
नव उपनिवेशवादी दौर और साम्प्रदायिकता  
राजनीति बनाम संस्कृति  
संस्कृति व संचारमाध्यम  
भाषा बनाम संस्कृति
- अध्याय - 2 : समकालीन कविता के संवेदनात्मक विकास में  
आधुनिक कविता की भूमिका** **31 - 72**  
समकालीन कविता की समकालीनता  
आधुनिकता और समकालीनता  
समकालीन कविता के विकास में आधुनिक कविता की  
भूमिका  
कविता की लोकधर्मिता - नागार्जुन  
श्रम सौन्दर्य और जिजीविषा की तलाश - केदारनाथ  
अग्रवाल और त्रिलोचन



समझौता रहित संघर्ष की कविता - मुक्तिबोध  
संघर्षशील मानवपक्ष की कविता - शमशेर  
राजनैतिक जिरह की कविता - रघुवीर सहाय  
सांस्कृतिक स्वत्व की तलाश - सर्वेश्वर दयाल सक्सेना  
आस्था की कविता - केदारनाथ सिंह  
विकल्प का इन्तज़ार - विजयदेवनारायण साही  
रचना के बाज़ारीकरण के खिलाफ - भवानी प्रसाद मिश्र

**अध्याय - 3 : सांस्कृतिक संकट सम्बन्धी कवि-प्रतिक्रियाएँ**

कविता के बहाने

**73 - 101**

कविता हलफनामा है  
कविता आदमी होने की तमीज़ है  
कविता अपने में विरोध की भाषा है  
कविता वक्तव्य नहीं गवाह है  
कविता अपने में मानवीय उपस्थिति है  
कविता बेहतररीन का सपना है  
कविता के प्रदेश से बाहर कविता  
आलोचना के बहाने  
कविता नैतिक प्रतिरोध है  
कविता सत्य और सौन्दर्य की प्रतिकृति है  
शब्द को बचाने की आकांक्षा  
लोक भाषा का विकल्प  
कविता की आख्यानात्मकता

**अध्याय - 4 : समकालीन कविता में मनुष्य का बिम्ब**

सामाजिक यथार्थ और मनुष्य

**102 - 155**

विकास का छद्म और हास्यास्पद होता मनुष्य  
राजनीतिक यथार्थ और मनुष्य  
अधिकार का केन्द्रीकरण और नागरिक हक से वंचित

मनुष्य

अवसरवादी कठमुल्लेपन की राजनीति और मूल्यहीन होता मनुष्य

राजनीति का मुखौटा धर्मी शक्ल और मनुष्य

तानाशाही राजनीति और रौंदा जा रहा मनुष्य

यथार्थ से कतराने की अनैतिकता

साम्प्रदायिक राजनीति और मनुष्य

वतन से विस्थापन की पीडा

इन्सानियत का गला घोंटता साम्प्रदायिक राष्ट्रवाद

स्त्री का यथार्थ

छद्म सामाजिकता में स्वत्व से वंचित स्त्री

रूढ़ मान्यताओं की जकडन में दमघुटती स्त्री

देह में सीमित होने की विडम्बना

दलित के दर्जे में सीमित मनुष्य का यथार्थ

## अध्याय - 5 : समकालीन कविता का इच्छित यथार्थ 156 - 193

सच और सपनों के बीच आस्था और संघर्ष की तलाश

आत्मकेन्द्री संस्कृति के खिलाफ

प्रतिरोध का पारिस्थितिकी सन्दर्भ

साम्प्रदायिक राजनीति के खिलाफ प्रतिरोधी विकल्प की

तलाश

स्त्री के शिल्प में अभिव्यंजित उत्पीडित मनुष्य का प्रतिरोध

लोक का विकल्प

उपसंहार

194 - 201

संदर्भ ग्रंथसूची

202 - 219

अध्याय - 1

समकालीन कविता का सांस्कृतिक परिदृश्य

यह असंदिग्ध ढंग से कहा जा सकता है कि साहित्य और समाज का गहरा संबंध है। साहित्य का अस्तित्व बुनियादी तौर पर उसकी समाज सापेक्षता में है। इस समाज - सापेक्षता का अर्थ यह नहीं है कि साहित्य महज समाज का प्रतिबिम्ब है बल्कि अपने आप नया रचने की संभावना उसकी खूबी है। साथ ही समाज की सीमाओं का उल्लंघन करते हुए वैकल्पिक संभावनाओं के साथ आगे बढ़ना भी उसकी प्रवृत्ति है।

अन्य विधाओं की तुलना में कविता की खूबी यह है कि वह सर्वाधिक सृजनात्मक है। इसी संदर्भ में कविता को हमारी 'सांस्कृतिक मातृभाषा' कही गयी है। ऐसा भी माना जाता है कि कविता मनुष्य के श्रम की उपज है। मनुष्य के श्रम के आधार पर जब सांस्कृतिक विकास संभव होता है तब कविता स्वयमेव सांस्कृतिक हिस्सा बन जाती है। यहाँ गौरतलब है कि "साहित्य और सांस्कृति सम्बन्धी कोई भी विचार सामाजिक जीवन में श्रमरत मनुष्य के कार्यकलाप से कटकर नहीं किया जा सकता। संस्कृति मनुष्य की ही होती है। साहित्य का निर्माता भी मनुष्य ही है जो समाज में रहता और श्रम करता है। मनुष्य की आदि अवस्था से लेकर आज तक का साहित्य कला एवं सभ्यता तथा संस्कृति का सारा विकास मनुष्य और समाज के विकास का ही परिणाम है।"<sup>(1)</sup> जाहिर है संस्कृति मनुष्य के सामाजिक विकास का परिणाम है।

---

1. शिवकुमार मिश्र - दर्शन साहित्य और समाज, सं. 1992 - पृ. 19

## संस्कृति और समाज

मनुष्य के विकास का इतिहास मूलतः उसके सांस्कृतिक होने का इतिहास है। अपने श्रम के माध्यम से प्रकृति के साथ लगातार उसका जो संघर्ष है वह उसके निरन्तर बदलते रहने की मानवीय इच्छा की मिसाल है। मनुष्य द्वारा समस्त मानवता की भलाई व प्रगति के लिए हासिल की गयी तमाम चीजें प्रकृति के साथ संघर्ष का परिणाम है। मनुष्य द्वारा अर्जित तमाम भौतिक व वैचारिक उत्कर्ष का आधार निःसन्देह उसका विवेक है। अपने इस विवेक को मानवता की भलाई व प्रगति के अनुकूल बनाने में संस्कृति का योगदान है। मनुष्य द्वारा अर्जित सबसे मूल्यवान धरोहर है संस्कृति। कारण यही है कि “संस्कृति ही मनुष्य के सौन्दर्यबोध तथा अन्य एन्द्रियबोधों को मानवीय बनाती है उन्हें जीवित रखती है। यह मनुष्य को निरन्तर एक अच्छा-सा मनुष्य बनाये रहती है।”<sup>(1)</sup> मसलन संस्कृति मनुष्य को विवेक सम्पन्न व मानवीय बनाती है। मानवीय होने से तात्पर्य मनुष्य के सांस्कृतिक होने से भी है।

मनुष्य की श्रेष्ठता उसके सांस्कृतिक होने की दृष्टि में निहित है। सांस्कृतिक होने के क्रम में वह पशुत्व से उबरता है और पशु से अलग भी हो जाता है। इन दोनों स्तरों पर संस्कृति ही अहम भूमिका निभाती है। इस मूल प्रकृति से उबरने व निरन्तर बदलने की कोशिशों के कारण ही वह मानवीयता हासिल करता है। लिहाजा “The very word culture contains a tension between making and being made”<sup>(2)</sup> इस द्वन्द्वात्मक

---

1. शिवकुमार मिश्र - दर्शन साहित्य और समाज, सं. 1992 - पृ. 19

2. Terry Eagleton - The idea of culture, 2000 - p. 5

प्रयास के फलस्वरूप मूलप्रकृति से मानवीयता में तब्दील होने की प्रक्रिया दरअसल सांस्कृतिक प्रक्रिया है। पशुओं में सांस्कृतिक दबाव संभव नहीं है। उनके व्यवहार पूरी तरह आन्तरिक दबावों पर निर्भर है। लेकिन मनुष्य के सन्दर्भ में अधिकतर सांस्कृतिक बोध ही उसके व्यवहार को निर्धारित करता है। मनुष्य अपनी सृजनशीलता के अंतर्गत सामाजिक प्रशिक्षण का माहौल तैयार करता है। प्रशिक्षण का यह वातावरण ही दूसरे शब्दों में संस्कृति कहलाती है।

समाज के साथ जुड़ने के उपक्रम में मनुष्य को संस्कृति ही सौन्दर्यात्मक तथा नैतिक तौर पर अनुशासित करती है। संस्कृति ही अपने आप को पहचानने व अपने आप पर काबू पाने में सहायक सिद्ध होती है- “Culture is thus a matter of self overcoming as much self realization. If it celebrates the self it also disciplines it, aesthetic and astatic together.”<sup>(1)</sup> यहाँ सौन्दर्यात्मक अनुशासन को सामाजिक यथार्थ के परिप्रेक्ष्य में देखना अनिवार्य है। वांछित और अवांछित स्थितियों के बीच के सामाजिक टकराव के सन्दर्भ में वांछित रूप को देखने की क्षमता ही सौन्दर्यबोध है। अपनी अनुकूलता की स्थिति के लिए मनुष्य का संघर्ष उसके सौन्दर्यबोध का परिचायक है। नैतिकता भी सामाजिक सन्दर्भ में ही विचारणीय है। यहाँ उल्लेखनीय है कि संस्कृति के सन्दर्भ में यह भ्रम होने की गुंजाइश रहती है कि वह वैयक्तिक अनुभव है। हालांकि “यह बात भ्रामक और गलत है कि नैतिक उन्नति शुद्धतः वैयक्तिक है। व्यक्तित्व की

---

1. Terry Eagleton - The idea of culture, 2000 - p. 6

रचना करने वाले तत्वों का समन्वय व्यक्ति है लेकिन उसका विकास और वास्तवीकरण ऐसी गतिविधि के बिना नहीं हो सकता जिसका संचालन बाहर की ओर बाहरी संबन्धों में परिवर्तन केलिए नहीं किया जाए। ये सम्बन्ध प्रकृति से हैं और भिन्न अंशों में अन्य मनुष्यों से भी अर्थात् जिन सामाजिक मंडलों में वह रहता है। इन सम्बन्धों में सबसे बड़ा सम्बन्ध संपूर्ण मानव जाति का आलिगन करना है।”<sup>(1)</sup> मनुष्य अपनी वैयक्तिक सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए एक व्यापक सामाजिक संदर्भ से जुडकर ही सार्थकता पाता है। बहरहाल संस्कृति का विकास मनुष्य के अस्तित्व की रक्षा के सवाल से जुडा हुआ है। मनुष्य का अस्तित्व समाज से जुडकर ही संभव हो सकता है।

समाज की प्रगति मानवीयता को बरकरार रखने में सक्षम एक व्यवस्था में ही संभव है। इस बाह्य व्यवस्था को सभ्यता के नाम से अभिहित किया जाता है। इन्सान को इन्सान बनाने वाली संस्कृति और मानवीयता को बरकरार रखनेवाली सभ्यता दोनों अभिन्न हैं। सभ्यता प्रत्यक्षतः अनुशासन का कार्य संभालती है तो संस्कृति परोक्षतः वही कार्य करती है। हज़ारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं “सभ्यता का आन्तरिक प्रभाव संस्कृति है। सभ्यता बाह्य व्यवस्थाओं का नाम है, संस्कृति व्यक्ति के अन्दर के विकास का।”<sup>(2)</sup> सभ्यता का आन्तरिक विकास संस्कृति है, इससे जाहिर होता है कि व्यवस्था का मनुष्योन्मुखी होना अनिवार्य है। मनुष्य के भौतिक व्यवहार का

- 
1. अंतोनियो ग्राम्शी - सांस्कृतिक और राजनीतिक चिन्तन के बुनियादी सरोकार, सं. 1970 - पृ. 470
  2. सं. हज़ारी प्रसाद ग्रन्थावली-9 - पृ. 195

मूल्यांकन या सांस्कृतिक होने का मूल्यांकन हम वैयक्तिक स्तर पर नहीं कर सकते। सामाजिक स्तर पर व्यवस्था के संदर्भ में ही कर सकते हैं। इसी हिसाब से यह अहम मुद्दा होता है कि समाज की व्यवस्था कहाँ तक सांस्कृतिक विकास की संभावना रखती है।

संस्कृति मनुष्य को व्यापक सामाजिक सन्दर्भ से जोड़ती है इसी से प्रकृति व मनुष्य और मनुष्य व मनुष्य के बीच के सम्बन्धों की रचना होती है। पूरे जैविक संसार के साथ मनुष्य का भौतिक व्यवहार इसलिए मुख्य है कि समाज की प्रगति इस पर निर्भर है। मनुष्य के आपसी व्यवहार के बिगडने के क्रम में समाज भी अवरुद्ध हो जाता है। अर्थात् समाज की सांस्कृतिक उन्नति मनुष्य के आपसी सरोकारों पर निर्भर है। अतः “संस्कृति को.... कला और सौन्दर्यशास्त्र के साथ जोडकर देखने का बहुत आग्रह न रखना और इसे मुख्यतया ऐसे भौतिक व्यवहारों के समुच्चय की तरह देखना बेहद महत्वपूर्ण है।”<sup>(1)</sup> भौतिक व्यवहार के प्रतिमानों के आधार पर सांस्कृतिक मूल्यों का ग्रहण होता है। प्रत्येक समाज में मानवीय मूल्यों की माँग होती है और उसके अनुरूप समाज की जीवनशैली रूपायित होती है। अतः संस्कृति के सन्दर्भ में कहा गया है कि “Culture is a discription of a particular way of life which expresses certain meanings and values not only in art and learning but also in institutions and ordinary behaviour.”<sup>(2)</sup> सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर जो

---

1. आलोचना त्रैमासिक - जूलाई-सितम्बर, 2001 - पृ. 10 (संस्कृति और भूमणलीकरण शीर्षक एज़ाज़ अहमद का लेख)

2. K.N. Panikkar - Communal threat secular challenge से उद्धृत - पृ. 25



जीवन शैली अपनायी जाती हैं उनकी नींव निःसन्देह संस्कृति पर केंद्रित है।

यहाँ एक और बात उभर आती है कि सामाजिक संस्थाओं के साथ मनुष्य के बौद्धिक प्रयास भी मूल्यों की माँग करते हैं। नृत्य, संगीत, साहित्य, मूर्तिकला, चित्रकला सरीखे प्रयास मनुष्य की निर्मितियाँ हैं। कभी-कभी इन प्रयत्नों को संस्कृति मानने का कार्य भी चलता है। लेकिन ये संस्कृति नहीं बल्कि मनुष्य के सांस्कृतिक विकास के परिणाम मात्र हैं। इसी मायने में ये संस्कृति के तहत शामिल हो जाते हैं। इनके अलावा विज्ञान, दर्शन, धर्म, भाषा, आचार-विचार, रीति-रिवाज़, वेशभूषा, पर्व-त्योहार आदि भी संस्कृति के अन्तर्गत शामिल हैं। इनकी अपनी-अपनी असंदिग्ध भूमिकाएँ हैं। अतः माना जाता है कि “Culture the integrated pattern of human knowledge, belief and behaviour. Culture thus defined consists of language, ideas, beliefs, customs, taboos, codes, institutions, tools, techniques, works of art, rituals ceremonies and other related components; and development of culture depends upon mans capacity to learn and to transmit knowledge to succeeding generations”<sup>(1)</sup> इन सब में संस्कृति की छाप रहती है।

संस्कृति बुनियादी तौर पर सम्प्रेषणशील है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होकर वह वर्तमान और भविष्य की उपलब्धि बनती है। “मनुष्य में

---

1. Encyclopedia Britanica Vol. 3 - p. 784

अवधारणा ग्रहण करने की क्षमता होती है जिसे वह प्रतीकों के ज़रिए संप्रेषित कर सकता है। इसलिए संस्कृति प्रतीकधर्मी होती है।”<sup>(1)</sup> मानवीय व्यवहार, कला, साहित्य, भाषा सरीखे प्रतीकों के ज़रिए ही संस्कृति अभिव्यक्ति पाती है। संस्कृति पूरी तरह सम्प्रेषण पर निर्भर रहती है। अपनी सांस्कृतिक विरासत को लेकर हर नयी पीढ़ी आगे बढ़ती है। पीढ़ियों के आपसी संवाद का सबसे प्रबल माध्यम भाषा है क्योंकि वह प्रतीकों का समुच्चय है। दूसरे शब्दों में “यदि हमारे अतीत के सबकुछ मरमिट जाए तो भी भाषा बची रहती है। जिसके द्वारा एक समाज के सदस्य आपस में संवाद कर पाते हैं, तो वर्तमान में रहते हुए भी वे अवचेतन में अपने अतीत से जुड़े रहते हैं और अतीत उनके वर्तमान में अदृश्य रूप में प्रवाहित होता रहता है। इस अर्थ में भाषा का दोहरा चरित्र होता है, वह सम्प्रेषण का माध्यम होने के साथ-साथ संस्कृति की वाहक भी होती है।”<sup>(2)</sup> भाषा के साथ-साथ साहित्य व अन्य कलाएँ भी सम्प्रेषण का कार्य करती हैं। ये भी मनुष्य के अनुभवों की प्रतीकात्मक अभिव्यक्तियाँ हैं। कलाओं से बढ़कर साहित्य में सांस्कृतिक संवाद की क्षमता ज्यादा प्रबल होती है क्योंकि साहित्य अपने में भाषा और कला को भी समेटता है और उसमें काल चेतना का पक्ष भी मुख्य है।

संस्कृति के सम्प्रेषण का अर्थ लीक पर चलना नहीं है। समय-समय पर उसमें प्रश्नचिह्न लगते रहते हैं। इस अर्थ में कहा जा सकता है

---

1. सच्चिदानन्द सिन्हा - भूमण्डलीकरण की चुनौतियाँ, प्र.सं. 2003 - पृ. 29

2. निर्मलवर्मा - दूसरे शब्दों में, सं. 1997 - पृ. 31

कि “संस्कृति मनुष्य की सृजनात्मक, आलोचनात्मक और आध्यात्मिक क्षमता की उपज है।”<sup>(1)</sup> संस्कृति बुनियादी तौर पर स्थिर न होकर परिवर्तशील है। बदलते हुए सन्दर्भ में आलोचनात्मक रूख अपनाते हुए संस्कृति अपनी जड़ता से उबरती है और सृजनशील क्षमता के नये प्रतिमानों को गढ़ती है। अपनी इस परिवर्तनशीलता के कारण वह अपनी मानवीयता का विस्तार भी करती है।

समाज के वस्तुगत सन्दर्भ में ही मनुष्य यथार्थ के प्रति सजग होता है। सजग होने का अर्थ यह भी है कि मानवविरोधी प्रतिगामी स्थितियों के खिलाफ प्रतिरोधी ऊर्जा का विकास। संस्कृति मनुष्य को विवेकशील बनाती है। विवेक के अंतर्गत अवांछनीय स्थितियों के खिलाफ प्रतिरोध की क्षमता भी विकास पाती है। संकट के दौर में संस्कृति विचारधारात्मक हथियार बन जाती<sup>(2)</sup> दूसरे शब्दों में संस्कृति “मनुष्य के व्यवहारों में ऐसी आवश्यक लोच और अन्वेषण ऊर्जा पैदा करती है जिससे वह विविध परिस्थितियों के अनुकूल जीवन को ढाल सके। इस लोच का एक पहलू यह है कि आदमी अपनी समस्याओं का हल कई दिशाओं में ढूँढ सकता है। इसमें सहायक होती है उसकी कल्पनाशीलता जिसके माध्यम से वह अनेक वैकल्पिक स्थितियों की कल्पना कर किसी एक में अपनी समस्या का हल पा लेता है। मनुष्य अपनी परिस्थितियों के अनुकूल, दो तरह से करता है एक अपने को परिवेश के हिसाब से ढालकर, दूसरा परिवेश में ही अपनी

---

1. शंभुनाथ - संस्कृति की उत्तरकथा, प्र.सं. 2000 - पृ. 174

2. Terry Eagleton - The idea of culture, Ed. 2000 - p. 8

आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन करके।”<sup>(1)</sup> सांस्कृतिक सजगता की वजह से मनुष्य परिवेश को अपने अनकूल बनाने में सफल होता है। इस अनुकूलन के लिए संस्कृति मनुष्य को वैकल्पिक संभावनाएँ प्रदान करती है और प्रतिरोध की ऊर्जा भी देती है।

### संस्कृति व परम्परा

संस्कृति के सन्दर्भ में परम्परा अहम मुद्दा इसलिए है कि मनुष्य का व्यवहार बहुत कुछ अपनी परम्परा और इतिहास से अर्जित जानकारी से निर्धारित होती है। यहाँ एक और बात स्पष्ट है कि परम्परा और इतिहास समानार्थक नहीं है। श्यामाचरण दुबे के अनुसार “परम्परा न मिथक होती है, न इतिहास। दोनों के तत्व घुले मिले रहते हैं।”<sup>(2)</sup> उन्हीं के शब्दों में “संस्कृति की संज्ञा मानव के सीखे हुए व्यवहार प्रकारों को दी जाती है। वैसे तो संस्कृति का पूरा स्वरूप ही ऐतिहासिक सन्दर्भों से निर्मित होता है किन्तु उसके ऐसे मूल्यों और व्यवहारों प्रकारों, जिनकी जड़ें इतिहास में बहुत गहरी हैं, परम्परा कहा जाता है।”<sup>(3)</sup> इतिहास तथ्यों पर पूरी तरह निर्भर है। लेकिन मिथक काल्पनिकता में अस्तित्व पाता है। उसकी कमज़ोरी यह है कि वह मनमानी व्याख्याओं की संभावना रखता है।

हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में “परम्परा का शब्दार्थ है, एक का दूसरे को, दूसरे का तीसरे को दिया जानेवाला क्रम। वह अतीत का समानार्थक नहीं है। परम्परा जीवन्त प्रक्रिया है। जो अपने परिवेश के संग्रह-

1. सच्चिदानन्द सिन्हा - संस्कृति और समाजवाद - पृ. 79

2. श्यामाचरण दुबे - परम्परा, इतिहासबोध और संस्कृति, सं. 1992 - पृ. 25

3. वहीं - पृ. 16

त्याग की आवश्यकताओं के अनुरूप निरन्तर क्रियाशील रहती है।”<sup>(1)</sup> परम्परा हमारी क्रियाशील विरासत है जो हमें सोचने के लिए बाध्य करती है। बदली हुई परिस्थितियों के अनुकूल वह नये की माँग करती है। परम्परा को साथ लेकर ही समय की माँग के अनुरूप हम अपनी सृजनात्मक ऊर्जा का प्रमाण दे पाते हैं। संस्कृति के सन्दर्भ में परम्परा की अहमियत अतीत; वर्तमान और भविष्य की निरन्तरता के सवाल से जुड़ी हुई है। हम परम्परा से सकारात्मक पक्ष लेते हैं और आगामी समय के अनुकूल उसकी उपयोगिता को सुनिश्चित करते हैं। इस चुनाव में भी संस्कृति अपनी अहम भूमिका निभाती है। “संस्कृति जडीभूत तथा पुराने रूढिग्रस्त ढाँचे से उत्पन्न बाधाओं तथा नए युग की संभावनाओं के मध्य तनाव को दूर करती है।”<sup>(2)</sup> सांस्कृतिक सजगता के रहते सही परम्पराबोध का विकास होता है।

### संस्कृति व इतिहास

परम्पराबोध के समान इतिहास बोध की भी अहम भूमिका है। सार्थक इतिहासबोध ऐतिहासिक यथार्थ को अपने वर्तमान तथा भविष्य के सन्दर्भ में वस्तुनिष्ठता के साथ परखता है। साँस्कृतिक सन्दर्भ में परम्परा के समान इतिहास भी दिशा-निर्देश की भूमिका निभाता है। वर्तमान समस्याओं की जड़ें अतीत में हैं। अतः इतिहास के प्रति हमारा रुख क्या है, इस पर निर्भर है हमारा वर्तमान और भविष्य। इस सच्चाई को नज़रअन्दाज़ करने का नतीजा सांस्कृतिक अवरूद्धता को बढ़ावा देना है। इतिहास हमारे

1. सं. मुकुन्द द्विवेदी - हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-9, सं. 1981 - पृ. 358

2. पुरनचन्द्र जोशी - स्वप्न और यथार्थ : आज़ादी की आधी सदी, प्र.सं 2000 - पृ. 91

मूल्यों के परिमार्जन का मौका प्रदान करता है। इतिहास की खास भूमिका के सन्दर्भ में शिवकुमार मिश्र का कहना है कि “इतिहास समय-सापेक्ष संस्कृति की आँख है, जीवन चेतना का प्रत्यक्षदर्शी है और भविष्य की संभावनाओं का व्याख्याता, विश्लेषक और मीमांसक है।”<sup>(1)</sup> इतिहास वर्तमान की सही पहचान संभव बनाता है, साथ ही वैकल्पिक भविष्य की तलाश में मददगार होता है।

मनुष्य परिवेश को अपने अनुकूल ढालने में सक्षम होता है। इस अनुकूलन के दौर में वह इतिहास का सहारा लेकर अन्तर्विरोधों व विसंगतियों के बीच से अपने अनुकूल की स्थितियों का विश्लेषण करता है। उसका सही इतिहासबोध वर्तमान की प्रेरणा और भविष्य की संभावना बनता है। सार्थक इतिहासबोध समय सापेक्ष चुनाव की माँग करता है। वस्तुतः “मनुष्य इतिहास और परिस्थितियों का दास नहीं वरन् उनका निर्माता है। वह अपने सार्थक तथा संगठित प्रयास से इतिहास तथा परिस्थितियों को बदल सकता है। इतिहास के अपने नियम उसका बन्धन न होकर उसके सहायक है।”<sup>(2)</sup> साँस्कृतिक सजगता से ओतप्रोत होने से मनुष्य इतिहास को बदलने की क्षमता रखता है। संस्कृति सामाजिक अनुभवों व सम्बन्धों के आधार पर अपना आकार पाती है। इतिहास भी अनुभवों का समुच्चय है। अतः संस्कृति और इतिहास को उसकी संबंध सापेक्षता में देखनी चाहिए। संस्कृति स्मृतियों पर निर्भर रहती है और इतिहास भी एक सामाजिक स्मृति है।

---

1. शिवकुमार मिश्र - दर्शन साहित्य और समाज, सं. 1992 - पृ. 32

2. वहीं - पृ. 39

इतिहास में वर्चस्वशाली सत्ता का अधीशत्व देखा गया है। अपने वर्चस्व को बनाये रखने के लिए सत्ता पूरे तन्त्र को अपने अनुकूल बनाती है। प्रत्येक सत्ता अपने लिए इतिहास को निर्धारित करती है। सत्ता द्वारा प्रायोजित इतिहास अपने अनुकूल अतीत की व्याख्या मात्र में सीमित रहता है। इतिहास अगर कुछ खास व्यक्तित्वों और उनकी लड़ाइयों तक सीमित है तो यह अवाम के साथ धोखा है। इतिहास में उनकी केन्द्रीयता को कभी झुठलाया नहीं जा सकता। हमारा इतिहास उनके असंख्य संघर्षों का इतिहास है। लिहाजा इतिहास में उनकी जगह दर्ज करना साहित्य की प्रतिबद्धता है।

### धर्म बनाम संस्कृति

बहरहाल संस्कृति के सन्दर्भ में धर्म इसलिए वचारणीय है कि संस्कृति मूल्य का रूप धारण करती है धर्म से। “संस्कृति एक नैतिक धारणा है सही गलत, अच्छी बुरी के बीच पहचान करने की योग्यता है। ....एक ओर संस्कृति का सार है धर्म। फलतः धर्म के बिना नैतिकता असंभव है।”<sup>(1)</sup> निर्मलवर्मा के शब्दों में “वह शताब्दियों से अर्जित अनुभवों से निचोड़ा हुआ आत्मबोध है, जिसकी कसौटी पर हम झूठ को सत्य से, न्याय को अन्याय से सत् को तमस से अलग करने का प्रयत्न करते हैं।”<sup>(2)</sup> धर्म का सरोकार इन्सान के नैतिक निर्देश से रहा। धर्म से अर्जित नैतिकता के बलबूते पर समाज में मानवीयता विस्तार कर गयी थी। पर आज त्रासदी

1. समकालीन सृजन पत्रिका, अप्रैल-सितम्बर 1998 - पृ. 14

2. निर्मल वर्मा - दूसरे शब्दों में - प्र.सं. 1997 - पृ. 90

यही है कि धर्म की वजह से समाज की मानवीयता गुम होती जा रही है क्योंकि धर्म ने वैयक्तिक स्तर से निकलकर संस्था का रूप धारण कर लिया है। धर्म की यह तब्दीली मानवीयता की अवरूद्धता और अपसंस्कृति के लिए कारण बनी और वह तमाम प्रतिगामी स्थितियों में सबसे आक्रामक है।

जाहिर है कि पहले-पहल धर्म की स्वीकृति मानवीयता की राह को प्रगतिकामी बनाने के लक्ष्य से हुई थी। लेकिन जिस समय से धर्म का राजनैतिक रूप प्रबल होने लगा तब से उसका मानवीय दायरा सिमटता चला गया। इस संकोच का इतिहास काफी पुराना है। इतिहास गवाह है कि अपना मतलब साधने के लिए राजनीति ने धर्म का इस्तेमाल किया। धर्म और राजनीति की मिलीभगत इसलिए ज़रूरी है कि सत्ता का अस्तित्व जनता के धार्मिक - आर्थिक शोषण से ही संभव है। आम जनता जब आर्थिक शोषण के खिलाफ आवाज़ उठायेगी तब सत्ता के सामने अस्तित्व को बरकरार रखने का सवाल आता है। व्यवस्था के परिवर्तन की माँग से जूझने के लिए सत्ता धर्म का सहारा लेती है। धार्मिक अन्धविश्वासों में अवाम को उलझाने का क्रम भी होता है। जनता के विरोधी रवैये को दबाकर रखने के लिए उन्हें भटकाने की कोशिशें होती हैं। इस साजिश के तहत धर्म मनुष्य पर हावी होता है। इसके फलस्वरूप सांस्कृतिक तौर पर हम बौने होते जा रहे हैं। इन्सान को इन्सान की नज़र से न देखकर धर्म की नज़र से देखने के लिए हमें बाध्य किया जा रहा है। धर्म के नाम पर मनुष्य को आपस में बाँटने का कार्य सदियों से हो रहा है। धर्म और राजनीति की साझेदारी के कारण ही यहाँ जाति व्यवस्था की संरचना हुई थी।



## जाति संरचना - आन्तरिक उपनिवेशीकरण

भौतिक सम्पदा के बढ़ने के क्रम में ही भारत में जातिव्यवस्था जोर पकड़ी थी। माना जाता है कि “वैदिककाल में उत्पादन के हिसाब से वर्ण व्यवस्था कायम हुई थी। खेती के प्रसार के साथ उत्पादन के बढ़ने के कम में श्रम का विभाजन होने लगा। वर्णाश्रम व्यवस्था में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की अपनी सुविधाएँ थी। शासक-शासित का सम्बन्ध वहाँ नहीं था। स्त्रियों की स्थिति भी काफी स्वाधीनता की थी। प्राचीन जनव्यवस्था में वर्गभेद अभी इतना तीव्र न हुआ था कि निर्धन और शोषितों के दमन के लिए राज्यसत्ता की आवश्यकता पड़े। जनता से अलग राज्यसत्ता का अस्तित्व भी अभी न था। साधारण जन भी युद्ध में भाग लेते थे और उन्हें हथके करके भूस्वामियों का गुलामी न बना दिया गया था।”<sup>(1)</sup>

बाद में तीन वर्णों के अतिरिक्त शूद्र का चौथा वर्ण भी जोड़ा गया। चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था सामन्ती व्यवस्था के जन्म और विकास के साथ जटिल होती गयी। वर्णाश्रम व्यवस्था राजनैतिक सोच के तहत जाति व्यवस्था में तब्दील होती गयी। धन का निरन्तर केन्द्रीकरण होता गया। “संपत्ति के केन्द्रीकरण के साथ राज्यसत्ता के जन्म और समाज में चारों वर्णों की व्यवस्था का विधान शेष था। रक्त सम्बन्ध पर आधारित जनव्यवस्था से सीधे सामन्ती व्यवस्था की ओर संक्रमण वैदिक साहित्य में बहुत अच्छी तरह देखा जा सकता है।”<sup>(2)</sup> राजा और ब्राह्मण में सत्ता का केन्द्रीकरण होता गया और आर्थिक शोषण का सिलसिला भी शुरू हुआ।

---

1. रामविलास शर्मा - मानव सभ्यता का विकास, प्र.सं. 1956 - पृ. 55, 56

2. वहीं - पृ. 56

ऋग्वेद को छोड़कर 'ब्राह्मणों' और 'स्मृतियों' में जनता के शोषण के तरीकों का स्पष्ट उल्लेख है। ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य वर्णों में भेद हो गया था और उनके अधिकारों और कर्तव्यों में भेद था। तैत्तरीय संहिता में ब्राह्मणों को प्रत्यक्ष देव कहा गया है। वे मानव शारीरधर्मी देव हैं। लेकिन शतपथ ब्राह्मण में यह भी कहा गया है कि ब्राह्मण राज्य प्रबन्ध करने के योग्य नहीं है। .....मनुस्मृति के अनुसार ब्राह्मणों की सेवा करने के लिए ईश्वर ने शूद्र बनाये थे। .....तैत्तरीय संहिता के अनुसार घोड़ों की तरह शूद्र दूसरों के वाहन हैं, इसलिए वे यज्ञ नहीं कर सकते। शूद्र के समीप वेद का अध्ययन वर्जित किया गया।<sup>(1)</sup> जाहिर है कि जाति संरचना शोषण पर टिकी हुई है। आर्थिक शोषण के लिए जाति का जाल बिछाया गया। ज्ञान की आवश्यकता समाज के छोटे दायरे में सीमित हो गया। इस प्रकार "ज्ञान की अनिवार्यता को मर्यादित करके पुरोहितों ने जहाँ एक तरफ वैश्य और शूद्रों को पीढ़ी-दर-पीढ़ी सत्ताधारियों की गुलामी करने के लिए मानसिक रूप से तैयार किया और वहीं दूसरी तरफ, इन्हीं लोगों से जुल्म के खिलाफ उठनेवाले हाथों को इन्हीं लोगों के मार्फत कटवाने की व्यवस्था भी कर दी। अर्थात् जन साधारण के लिए ज्ञान की अनिवार्यता को समाप्त करके पूरे समाज को बौद्धिक और श्रमिक वर्ग में बाँट दिया।"<sup>(2)</sup>

सवर्ण वर्चस्ववाली जाति संरचना इतनी संकीर्ण है कि दलितों और स्त्रियों को मौलिक अधिकारों से वंचित मात्र नहीं करती बल्कि मनुष्य

---

1. रामविलास शर्मा - मानव सभ्यता का विकास, प्र.सं. 1956 - पृ. 82

2. पहल पत्रिका 73 - जनवरी-फरवरी 2003 - पृ. 34,35

का दर्जा देने से भी हिचकती है और उन्हें अपने व्यक्तित्व से वंचित रखते हुए बौद्धिक गुलामी भी संभव बनाती है। उनके सामाजिक न्याय की माँग को नकारते हुए प्रताडना के ज़रिए उन्हें अपने काबू में रखती है। यहाँ उल्लेखनीय है कि “वर्णाश्रम असल में आन्तरिक उपनिवेशीकरण है जिसने अवर्णों, आदिवासियों और स्त्रियों को सांस्कृतिक रूप से हाशिये पर धकेलकर एक ही देश में वस्तुतः दो देश स्थापित कर दिए हैं।”<sup>(1)</sup> पुरुषवर्चस्वशाली जातिसंरचना के भीतर स्त्री भी परिधि पर है और वह निरन्तर शोषण का शिकार होती जा रही है। अन्य शब्दों में “वर्णाश्रम जो सिर्फ जातियों के स्तर क्रम का ही नहीं, बल्कि नारी विरोधी पुरुष सत्ता का भी माध्यम है। इसका सुचारु संचालन स्थूल प्रताडना से भी अधिक सूक्ष्म-आत्मसातीकरण के ज़रिए होता है।”<sup>(2)</sup>

### साम्प्रदायिकता - मध्यकालीन सन्दर्भ में

जाति व्यवस्था से जुड़े हुए मुद्दों के साथ धर्म सम्बन्धी मुद्दों ने आज संकीर्ण रूप धारण कर लिया है। इसका काफी पुराना इतिहास है। मध्यकाल में मुसलमानों के भारत पर हस्तक्षेप की सीमा महज राजनैतिक नहीं थी बल्कि सांस्कृतिक हमलों का सिलसिला भी यहीं से शुरु होता है। “इस्लाम के इस रूप ने भारतीय संस्कृति को मज़हब के आधार पर पहली बार विभाजित किया, जबकि इसके पहले भारत में ऐसा कभी नहीं था। इस्लाम के आगमन के बाद पहली बार संस्कृति पर राजनीति हावी हो गई और

---

1. पुरुषोत्तम अग्रवाल - संस्कृति वर्चस्व और प्रतिरोध, प्र.सं. 1995 भूमिका से  
2. वहीं

सांस्कृतिक मूल्यों को सत्तारूढ राजनीतियों की पराधीनता स्वीकार करनी पड़ी।”<sup>(1)</sup> यह भी कहा जाता है कि इस्लाम का आरम्भिक इतिहास मारकाट, खुरेजी, धर्म परिवर्तन, अभद्रता और अन्याय का इतिहास है।”<sup>(2)</sup> मुसलमानों के राजनैतिक व सांस्कृतिक हमले का जवाब उसी रूप में देने में भारतीय अक्षम थे। अपनी हीनता ग्रन्थि के कारण उन्होंने जाति के नियम कठोर बना दिये। छुआछूत की प्रथा और भी विकराल हुई और लड़कियों की बचपन में शादी आम बात हो गयी। मुसलमानों के बर्बरतापूर्ण व्यवहार के रहते पहली बार हिन्दू शब्द का प्रचलन भी हुआ। मुसलमानों को म्लेच्छ समझने की परम्परा भी शुरू हुई। हालांकि भारत में इस्लाम का इतिहास मात्र अन्याय का नहीं है। उनकी देन को कभी नज़रअन्दाज़ नहीं किया जा सकता। “भारतीय संस्कृति में इस्लाम का सबसे महत्वपूर्ण योगदान यह है कि इसने दलित जाति समूहों के सामने शोषण और आत्मगौरव व विलोपन से मुक्ति पाने की एक संभावना प्रस्तुत की। इस्लाम ने भारतीय जन मानस में सदियों से घुमड रही बेचैनी को ठोस रूप देने और ब्राह्मणवाद के राजनीतिक सामाजिक तथा विचारधारात्मक प्रभुत्व को चुनौती देने का क्रान्तिकारी काम किया।”<sup>(3)</sup> भारत की उत्पीड़ित जनता के सामने एक विकल्प प्रस्तुत हुआ।

---

1. नरेन्द्र मोहन - भारतीय संस्कृति, सं. 1997 - पृ. 361

2. रामधारी सिंह दिनकर - संस्कृति के चार अध्याय, सं. 1962 - पृ. 327

3. पुरुषोत्तम अग्रवाल - संस्कृति वर्चस्व और प्रतिरोध, प्र.सं. 1995 - पृ. 29

## साम्प्रदायिकता - उपनिवेशवादी सन्दर्भ में

उपनिवेशवादी दौर में साम्राज्यवादी को धार्मिक तनाव के माहौल से अपना मतलब साधने का अवसर प्राप्त होता है। अपने वर्चस्व को बरकरार रखने के लिए वह मजहब का इस्तेमाल करना चाहता है। गौरतलब है कि हमारे इतिहास का गौरवान्वित क्षण यही है कि उकसाने की तमाम कोशिशों के बावजूद भी प्रथम स्वाधीनता संग्राम के दरमियान जनता में एकता की आकांक्षा उमड़ पड़ी। हिन्दू-मुस्लिम एकता की अनिवार्यता के प्रति लोग सजग हुए और दोनों मिलजुलकर लड़े। ऐन मौके पर साम्राज्यवादियों ने अपने दमन के तरीके बदल दिये। ऐसी साजिश रची गयी, जिससे धर्मों, जातियों व भाषाओं में जो अभेद है उसकी जगह भेद बढ़ता रहा। यहाँ के नेता भी साम्राज्यवादियों की 'फूट डालो, राज करो' की भेदनीति के गिरफ्त में आये। उनकी "सबसे बड़ी भूल यह हुई कि उन्होंने हिन्दू के सन्दर्भ में उस परिभाषा को ग्रहण किया जो अंग्रेजों द्वारा बनायी गयी थी। हिन्दू राष्ट्र सांस्कृतिक अवधारणा की उपज है। यह यथार्थ निरन्तर उपेक्षित होता गया और यह मान्यता प्रगाढता से भारतीय जन मानस में छा गयी कि 'हिन्दू' एक ऐसा मजहब है जैसा कि इस्लाम या ईसाइयत।"<sup>(1)</sup> हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे को धर्म की नज़र से देखने लगे। दोनों का फासला बढ़ता गया कि हिन्दू को मुसलमान म्लेच्छ और मुसलमान को हिन्दू काफिर नज़र आने लगे।

अंग्रेजों की कूटनीति से प्रभावित होकर मुस्लिम नेताओं ने अपने लोगों को कांग्रेस और राष्ट्रीय आन्दोलन से अलग रहने का निर्देश दिया

---

1. नरेन्द्र मोहन - भारतीय संस्कृति, सं. 1997 - पृ. 360

और मुसलमानों के लिए अलग चुनाव योजना की माँग भी उठी। साम्प्रदायिक भेदनीति के बढ़ने के क्रम में बंगाल का विभाजन भी हुआ। इसी दौर में लॉर्ड मिंटो ने स्थानीय स्वशासन की योजना बनाई। मिंटो-मार्ले की यह योजना भी भेद की साजिश से हुई थी। दूसरे शब्दों में “सरकार की इस नीति से संघर्ष का वातावरण और भी पनपा। मिंटो-मार्ले सुधार के द्वारा हिन्दुओं और मुसलमानों को जिला बोर्डों से लेकर कौंसिलों तक में चुनाव के द्वारा अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार मिल गया। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि भारत में साम्प्रदायिकता की अग्नि धधक उठी।”<sup>(1)</sup> अन्जाम यह हुआ कि 1906 में मुस्लिम लोग तथा 1909 में हिन्दू महासभा की स्थापना हुई। भेद बढ़ता गया और 1930 के अन्दर बड़े-बड़े साम्प्रदायिक दंगे हुए।

यह साम्प्रदायिक तनाव इतना बढ़ गया कि देश का विभाजन हुआ। इस शर्मनाक हादसे ने समाज के हर पहलु को प्रभावित किया। मसलन “विभाजन स्थूल भौतिक रूप में ही दुर्घटना नहीं था, यह एक मानवीय ट्रेजडी थी जिसने लाखों लोगों को भावात्मक, विचारात्मक, मनोवैज्ञानिक, मानसिक और आर्थिक स्तरों पर प्रभावित किया था। यह दुर्घटना केवल राजनीति या किसी एक वर्ग विशेष से जुड़ी हुई नहीं थी, बल्कि इससे लाखों-करोड़ों लोगों की ज़िन्दगी - उनका वर्तमान और भविष्य, उनकी सभ्यता और संस्कृति, उनका आचरण और व्यवहार भी जुड़ा हुआ था।”<sup>(2)</sup> यानी फिलहाल हुए साम्प्रदायिक दंगों से मानवीयता

1. धीरेन्द्र वर्मा - हिन्दी साहित्य कोश, सं. 1963 - पृ. 2

2. नरेन्द्र मोहन - बीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध : हिन्दी कहानी, सं. 1996 - पृ. 9

नदारद हो गयी। मनुष्य की भलाई के उपलक्ष्य में स्वीकृत धर्म को मनुष्यविरोधी बना दिया गया।

### नव उपनिवेशवादी दौर और साम्प्रदायिकता

साम्राज्यवादी शासन के खात्मे के बाद जनतान्त्रिक शासन की स्थापना के बाद भी भेदनीति में कोई परिवर्तन नहीं आया। धर्म और राजनीति की साझेदारी और भी मजबूत होती गयी है। स्वाधीनता आन्दोलन के दरमियान धर्म निरपेक्षता का जो नारा बुलन्द हुआ था वह नारे तक सीमित है। भारत के सन्दर्भ में प्रत्येक व्यक्ति को विरासत के रूप में धार्मिक बोध मिलता है। धर्मप्राण जनता धर्म का अनुसरण करती है। ऐसे माहौल में राजनीति और धर्म का गठजोड़ ढीला होता नहीं। चुनाव और नौकरी के सन्दर्भ में धर्म को निर्णायक मानने की राजनीति चली है।

नव उपनिवेशवादी दौर में धर्म और राजनीति का गठबन्धन तीव्रतम बिन्दु में है। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के तहत धार्मिक कट्टरता को मजबूत करने की कोशिश जारी है। हिन्दू-मुस्लिम भेदभाव के माहौल से प्रभावित होकर हिन्दू महासभा को नाकाफी समझकर 1925 में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना हुई थी। इसके साथ 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' का विस्फोट भी हुआ। हिन्दुत्व का नारा देने वाले कट्टरवादी आज फिर धर्म, संस्कृति और राष्ट्र को एक दूसरे से उलझाना चाहते हैं। संस्कृति को हिन्दुत्व से जोड़कर उसे साम्प्रदायिक बनाने की कोशिश जारी है। हिन्दू राष्ट्रवाद में भारत को सीमित रखने का प्रयास भी हो रहा है।

भारतीय राष्ट्रवाद की अवधारणा दरअसल साम्राज्यवाद से टकराहट का नतीजा था। फिर भी भारत के सन्दर्भ में राष्ट्र का अर्थ किसी जाति, धर्म या भाषा तक सीमित नहीं था क्योंकि उसकी मिली जुली संस्कृति रही है। विडम्बना यही है कि आज राष्ट्रवाद के तहत मात्र हिन्दुत्व के वर्चस्व को स्थापित करने की कोशिश जारी है। दूसरे शब्दों में “सांस्कृतिक राष्ट्रवाद भी उग्रता पर टिका हुआ है। ...इसी कारण सांस्कृतिक राष्ट्रवाद अनेक आंचलिक संस्कृतियाँ मिलकर बनी बहुलतावादी राष्ट्रीय संस्कृति से एकदम उलटकर है। और इस सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का मूलाधार हिन्दुत्व की कट्टरता और संकीर्णता है।”<sup>(1)</sup> शंभुनाथ के शब्दों में “सांस्कृतिक राष्ट्रवाद में ‘राष्ट्रीय संस्कृति का डिक्स्ट्रकशन है। यह घरेलू उपनिवेशवाद की विचारधारा है।”<sup>(2)</sup> उपनिवेशवादी दौर में अंग्रेजों को दुश्मन न मानकर अन्य धर्मावलम्बियों को दुश्मन मानने का सिलसिला शुरू हुआ। आज नव उपनिवेशवादी दौर में यह जारी है। राष्ट्रवाद के नाम पर हिन्दुत्व धार्मिक अल्पसंख्यकों के खिलाफ हो रहा है। सवर्ण वर्चस्वशाली जाति संरचना को प्रोत्साहन देनेवाला सांस्कृतिक राष्ट्रवाद अपने आप में दलितों और स्त्रियों के खिलाफ भी होता जा रहा है।

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद भारत में फासिज़्म का ही प्रतिरूप है। फासीवाद सर्वहारा की क्रान्ति की तबाही के उपलक्ष्य में जन्मा था। अपने वर्चस्व को बनाये रखने के लिए इस ने रूढ़िवाद का ही सहारा लिया था। फासिज़्म ने “नस्लवाद को अपना मुख्य अंग बनाया। उसने आर्यों को

---

1. सच्चिदानन्द सिन्हा - भूमण्डलीकरण की चुनौतियाँ, प्र.सं. 2003 - पृ. 30

2. शंभुनाथ - संस्कृति की उत्तर कथा, प्र.सं. 2000 - पृ. 181



यहूदियों से, गोरी जातियों को काली जातियों से श्रेष्ठ बनाया; यहूदियों के निशान मिटाने और काली जातियों को जंगी बूटों के नीचे दबाकर रखने का नारा दिया।”<sup>(1)</sup> “नस्लवाद के साथ ही फासीवाद ने अभिजनवाद को भी अपनाया। नस्लवाद एक नस्ल को दूसरी नस्ल से घृणा करना सिखाता था और अभिजनवाद अपने देश के एक छोटे हिस्से को बाकी देशवासियों से घृणा का उपदेश देता है।”<sup>(2)</sup> लोकतन्त्र को तबाह करनेवाले इन्हीं इरादों के साथ भारत में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को प्रोत्साहन मिल रहा है। सांस्कृतिक जड़ता को स्वीकृति देकर पुनरुत्थानवाद को प्रोत्साहन मिल रहा है। वे इतिहास को झुठलाकर कट्टरता पर बल दे रहे हैं। अतीत के नरसंहारों को आगे खड़ा करके अपनी आक्रामकता को वैधता दिला रहे हैं। और राष्ट्रवादी होने का गर्व कर रहे हैं। हालांकि उनका राष्ट्रप्रेम फासीवादियों से मेल खा रहा है।

भारत की मूलजाति आर्य है या द्रविड इस पर अब भी बहसें हो रही हैं। फिर भी अन्तिम धारणा बनाना नामुमकिन है। भारत की समावेशी सांस्कृति को भूलकर हिन्दू-मुसलमान विवाद को भी प्रक्षय मिल रहा है। सांस्कृतिक राष्ट्रवादियों की संवेदनशीलता भारतीय जनता के प्रति नहीं बल्कि हिन्दुत्व के प्रति है। राष्ट्रियता की आड में साम्प्रदायिकता को बढ़ावा दिया जा रहा है। अल्पसंख्यकों के खिलाफ होना, जातिवाद के तहत दलितों को दबाना और पुरुष वर्चस्व को बनाये रखते हुए स्त्री को परिधि पर धकेलना इनका मुख्य एजेण्डा होता जा रहा है। साम्प्रदायिक राष्ट्रवाद

---

1. अयोध्या सिंह - फासीवाद, प्र.सं. 1980 - पृ. 26

2. वहाँ - पृ. 28

को ही यहाँ सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की हैसियत मिल रही है। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद अपने छद्मरूप में पूरे भारत के लिए चुनौती बनता जा रहा है।

धर्म के उग्रराजनीतिकरण के कारण बल पकड़ने वाले साम्प्रदायिक उन्माद में भूमण्डलीकरण के पैरोकारों की भूमिका को भी नज़रअन्दाज़ नहीं किया जा सकता। वे दावा कर रहे हैं कि वैश्विक समानता के तहत साम्प्रदायिक समस्याएँ थम जाएँगी। इस दावे की आड़ में जाति, धर्म व नस्ल के नाम पर वे राष्ट्रों के बीच तनाव पैदा कर रहे हैं। भूमण्डलीकरण की आर्थिक नीतियों के खिलाफ जन-रोष को दबाकर रखने के लिए विभाजन का सिलसिला जारी रखा गया है। जाति, धर्म व नस्ल के नाम पर जनता की एकता को तोड़ने का हर संभव प्रयास जारी है। दूसरे शब्दों में “वह पितृसत्तात्मक विचारधारा से अपनी प्राणशक्ति ग्रहण करती है और यह मुट्ठीभर पूँजिपतियों और सामन्तों के हित को सत्ता में बनाए रखने के लिए काम करती है जिनकी छत्रछाया में यह बढ सकती है। इस विचारधारा के लिए भूमण्डलीय माहौल बहुत अनुकूल है क्योंकि यह उन सभी उत्पीड़ितों को हाशिये पर धकेलने में यकीन करती है। जो पूँजी के मुक्त प्रवाह में बाधक है।”<sup>(1)</sup> जाहिर है कि वैश्विक स्तर पर अलगाववाद के खिलाफ कार्यक्रम की माँग बढ़ती जा रही है। दूसरी और असमानता और भी तीव्रतर हो रही है। देश का माहौल आम जनता के खिलाफ होता जा रहा है।

---

1. युद्धरत आम आदमी - जनवरी-मार्च, 2004 - पृ. 2

## राजनीति बनाम संस्कृति

“एक उच्चतर संस्कृति हमेशा एक उच्चतर राजनैतिक माहौल की देन होती है।”<sup>(1)</sup> ऐसे माहौल में ही सांस्कृतिक मूल्य पनप सकते हैं। तथा मानवीयता विकसित हो सकती है। राजनीति की भूमिका के सन्दर्भ में अक्सर यह आकांक्षा रहती है कि “उसका लक्ष्य नवीन और बेहतर सभ्यता का निर्माण करना है। व्यापक जन समूहों की सभ्यता और नैतिकता को उत्पादन के आर्थिक तन्त्र के अनवरत विकास की ज़रूरतों के अनुकूल बनना और इसलिए भौतिक रूप से नए तरह की मानवता का भी विकास करना है।”<sup>(2)</sup> स्पष्ट है कि राजनीति समाज में सांस्कृतिक मूल्यों की माँग करती है। उत्पादन के विकेन्द्रीकरण के ज़रिए शोषण विहीन समाज की स्थापना, समाज के सभी नागरिकों को वर्ग, लिंग, धर्म व नस्ल भेद के बिना मानवीय अधिकार प्राप्त होना, मानव या नागरिक अधिकारों की कानूनी सुरक्षा, अभिव्यक्ति की स्वाधीनता सभी नागरिकों को विकास के मौके मिलना आदि बुनियादी मूल्यों की आकांक्षा राजनीति में रहती है।

लेकिन विडम्बना यही है कि जहाँ व्यवस्था का मनुष्योन्मुखी होना अनिवार्यता बनती है वहाँ वह सत्ता के अनुकूल होती गयी। भारत में राजतन्त्र प्रारंभ से लेकर शोषण की व्यवस्था पर टिका हुआ है। यहाँ सामन्ती व्यवस्था की स्थापना सत्ता की पर्याप्त सुविधाओं के अनुकूल हुई थी। अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए सत्ता ने धर्म का सहारा लिया।

---

1. शंभुनाथ - संस्कृति की उत्तर कथा, प्र.सं. 2000 - पृ. 187

2. अंतोनियो ग्रामशी - सांस्कृतिक और राजनैतिक चिन्तन के बुनियादी सरोकार, प्र.हि.सं. 2002 - पृ. 343

सत्ताधारियों को हमेशा यह डर बना रहता है कि अवाम का संयम जब चाहे टूट सकता है। आर्थिक शोषणपरक नीतियों के खिलाफ जनता का विद्रोह जब चाहे फूट सकता है। अपनी अस्तित्व रक्षा व शोषण तन्त्र की मजबूती के लिए उन्हें धर्म के घपले में फँसाता रहा। राजनीति का चरित्र पूरी तरह शोषण पर निर्भर है। सामन्ती व्यवस्था से लेकर वर्तमान तक राजनीति का यही चरित्र रहा।

यह भी गौरतलब है कि “जो शासक वर्ग मूल्यों या जीवन दर्शन और व्यवहार के आधार पर जन मानस पर अधिकार करने की और उसे नेतृत्व देने की अपनी क्षमता खो बैठता है, वह नग्न पशुबल का सहारा लेने पर विवश होता है।”<sup>(1)</sup> वैश्विक स्तर पर यही एकमात्र ऐतिहासिक सच्चाई है। आर्थिक संकट के दौर में जब जनता अपनी माँगों को लेकर आवाज़ उठाने लगती है तब उनसे जूझने के लिए दमन के अलावा उनके पास और कोई चारा नहीं है। तानाशाही के तहत वह अपनी रक्षा पाता है। इसके लिए सबसे जबरदस्त मिसाल है फासीवाद। जनक्रान्तियों के दमन के उपलक्ष्य में ही शासकों की तानाशाही, फासीवाद के रूप में उभरी थी। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के साथ फासीवाद का खात्मा भी हुआ। फिर भी उसका बीज पूरे विश्व में सुरक्षित है।

साम्राज्यवादी शासन का खात्मा होने पर जनतान्त्रिक शासन वर्चस्व में आया। यह आज़ादी पूरी तरह साम्राज्यवाद से आज़ादी नहीं थी। सिर्फ सत्ता का हस्तान्तरण ही हुआ। पूँजीवाद यहाँ ज्यों का त्यों बना रहा।

---

1. शंभुनाथ - संस्कृति की उत्तर कथा, प्र.सं. 2000 - पृ. 190

लोकतान्त्रिक व्यवस्था को सिर्फ सतही तौर पर ही स्वीकारा गया था। अन्दरूनी तौर पर हमारी व्यवस्था पुरानी ही रही। देशी राजनीति साम्राज्यवादी शासन तन्त्र से मुक्त नहीं हुई। इसी का प्रमाण है धर्म से गठजोड राजनीति का स्थायी चरित्र रहा, उसके साथ नौकरशाही और पूँजीवाद से अपने शासन तन्त्र को मजबूत बना दिया गया। लोकतान्त्रिक मूल्यों के बरक्स यहाँ साम्राज्यवादी मूल्यों का ही वर्चस्व रहा।

सांस्कृतिक विघटन राजनीति का खास चरित्र हो रहा है। अपने दायित्वों को भूलकर शासकवर्ग अपनी स्वार्थपूर्ति में लगे हुए हैं। राजनीति का यह अवमूल्यन देश की सबसे बड़ी चुनौती है। “सत्ता की राष्ट्रीय संरचना में शामिल ऐतिहासिक शक्तियाँ जब अपनी परम्परागत राजनैतिक संस्कृति, गौरवशाली राष्ट्रीय परम्पराओं और विस्तृत जिम्मेदारियों को भूलती है, तभी संस्कृति उद्योग निरंकुश होता है और सांस्कृतिक गुलामी को फैलने की जगह मिलती है।”<sup>(1)</sup> सत्ताधारी वर्ग अपने अधिकारों व दायित्वों के प्रति निस्संग होते जा रहे हैं। ऐसे राजनैतिक माहौल में भूमण्डलीकरण को जगह मिल रहा है। उदारीकरण, निजीकरण आदि के लिए देश को खोलकर रख दिया गया है। अपनी सत्ता कायम रखने के लिए वे यथार्थ से कतराते जा रहे हैं। शर्तों वाले समझौते पर हस्ताक्षर करते हुए शासन की बागडोर साम्राज्यवादियों के हाथों में सौंप दिया गया है। समझौतापरस्त शासकवर्गों के रहते विश्व बैंक, विश्वव्यापार संगठन और अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष आदि के इशारे पर देश की नीतियाँ निर्धारित हो जा रही हैं। बहुराष्ट्रीय

---

1. शंभुनाथ - संस्कृति की उत्तर कथा, प्र.सं. 2000 - पृ. 187

कम्पनियों को प्रोत्साहन देकर अस्सी प्रतिशत जनता के प्रति नकारात्मक रूख अपना रहे हैं। बहुसंख्यक जनता की बुनियादी आकांक्षाओं को अनदेखा करते हुए साम्राज्यवादियों से सौदेबाज़ी शुरू कर दी गयी है। विकास योजनाएँ जनसाधारण को नज़रअन्दाज़ करते हुए लागू हो रही हैं।

### संस्कृति व संचार माध्यम

भारत में अँग्रेज़ों द्वारा लाये गये औद्योगीकरण का स्वागत हुआ। प्रकारान्तर से इसने हमारी संस्कृति पर हमला किया। मानव व मानव तथा मानव व प्रकृति के आपसी लगाव की तबाही में इसका बड़ा हाथ रहा। व्यापक तौर पर हुए शहरीकरण के तहत खेतों को उजाड़ने का क्रम भी जारी रहा। मुनाफा निर्भर औद्योगिक प्रगति से प्रकृति का अन्धा दोहन शुरू हुआ। पर्यावरण पर इसका आक्रामक असर पड़ रहा है। समाज के लगभग बीस प्रतिशत जनता के लिए अस्सी प्रतिशत के अवाम की ज़िन्दगी खतरे की ओर बढ़ती जा रही है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद तकनीकी प्रगति के तहत संचार एवं सूचना प्रसारण माध्यमों का प्रचार भी बढ़ा। संचार एवं संप्रेषण क्रान्ति का भी भारत जैसे देशों पर नकारात्मक असर पड़ा। सांस्कृतिक संदर्भ में यह नवउपनिवेशवादी औजार है। भूमण्डलीकरण के तहत यह देशों को अपने गिरफ्त में रखकर नहीं बल्कि वहाँ के दिमागों को गिरफ्त में रखकर शासन चलाने में सशक्त हथियार साबित हो रहा है। दिमागों को उपनिवेश बनाते हुए यह साम्राज्यवाद का नया रूप प्रस्तुत कर रहा है। इसकी रफ्तार इतनी तेज़ है कि यह सांस्कृतिक हमलेवार सिद्ध हो रही है। मसलन - “अब तक

भारत में विविधता में सांस्कृतिक एकता मुख्यतः भारत के तकनीकी पिछड़ेपन के कारण बनी रही, खास कर सम्प्रेषण के क्षेत्र में पिछड़ेपन के कारण बनी रही। आधुनिक सम्प्रेषण के युग में भारत के तेज़ी से प्रवेश करना संस्कृति के क्षेत्र में नयी चुनौतियाँ पैदा करना है। सांस्कृतिक विविधता पर आधारित सांस्कृतिक एकता पर आधुनिक तकनीकी की काली छाया मँडरा रही है।<sup>(1)</sup> सम्प्रेषण के माध्यम मानसिक व बौद्धिक स्तर पर नव औपनिवेशिक वर्चस्व को ताकतवर बनाता जा रहा है। सोच और संवेदना पर इसका हमला है।

परिणाम स्वरूप संस्कृति पर हमारी जो आस्था थी वह नष्ट होती जा रही है। बाज़ारू सभ्यता के हित में ऐसी पीढी तैयार हो रही है जिस में सांस्कृतिक परम्परा के प्रति, इतिहास के प्रति कोई लगाव नहीं है। दरअसल यह संचार माध्यम झुंड संस्कृति का निर्माण कर रही है। यही नहीं “समूह संस्कृति एक व्यावसायिक और संकीर्ण संस्कृति है। उसे कभी-भी जन संस्कृति या जनता की राष्ट्रीय संस्कृति नहीं कहा जा सकता है। ...दरअसल झुंड संस्कृति संस्कृतिहीनता की संस्कृति है।”<sup>(2)</sup> संचार माध्यम बाज़ार के अनुरूप झुंड संस्कृति को ही बढ़ावा दे रहा है। संवेदनहीनता की अपसंस्कृति को प्रोत्साहन देना इसका परम लक्ष्य है।

तकनीकी प्रगति ने उपभोक्ता समाज को भी जन्म दिया है। यह उपभोक्ता संस्कृति सांस्कृतिक प्रतिरोध की जगह अप-संस्कृति को प्रोत्साहन

---

1. पूरनचन्द्रजोशी - परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम - पृ. 92

2. शंभुनाथ - संस्कृति को उत्तर कथा, प्र.सं. 2000 - पृ. 177

दे रही है। उपभोक्तावाद के तहत उपभोग मात्र आदमी का लक्ष्य होता जा रहा है। उपभोग हमारी ज़रूरत है फिर भी उसके अपने मूल्य होते हैं। बाज़ार के अपने मूल्य होते हैं। लेकिन यहाँ बुनियादी ज़रूरतों से बढ़कर सुखवाद या मूल्य प्रबल है उपभोग और उपभोगवाद एक दूसरे से भिन्न है - “उपभोक्तावाद ‘मालावाही’ संस्कृति का जाना पहचाना नाम है। उपभोक्तावाद बाज़ार का ऐसा संगठन है जहाँ हमारे उपभोग का स्वरूप हमारी आवश्यकताएँ नहीं, व्यावसायिक हित निर्धारित करते हैं।”<sup>(1)</sup> उपभोक्तावादी संस्कृति में आदमी बाज़ार तन्त्र का शिकार होता है। विज्ञापन के औजार उनके लिए महत्वपूर्ण साबित हो रहे हैं। विज्ञापन द्वारा निर्मित मानदंड के अनुकूल अपनी ज़िन्दगी को ढालने की होड़ में आदमी की चेतना नष्ट होती जाती है। अपनी संस्कृति के अनुरूप नहीं बल्कि आयातीत संस्कृति के मुताबिक ढालने की प्रकृति बढ़ती है। मुनाफाखोर पूँजीवाद वैश्वीकरण के तहत संगठित रूप से साम्राज्यवाद की जड़ मज़बूत करता है।

जाहिर है कि समाज में संस्कृति की भूमिका असंदिग्ध है। समाज को मानवीय संवेदनाओं से सम्पृक्त करते हुए मनुष्य और मनुष्य के बीच के रिश्ते को मज़बूत बनाती है। प्रत्येक समाज के अपने प्राकृतिक माहौल और ऐतिहासिक अनुभवों के आधार पर बना खास सांस्कृतिक परिदृश्य होता है। जो अपने में मानवीय मूल्यों को संजोए हुए होते हैं। यह उसकी अस्मिता है। इसी सांस्कृतिक परिदृश्य के अनुरूप वहाँ की जीवनशैली रूपायित होती है। उस समाज के लोगों की ज़िन्दगी इसी पर निर्भर रहता

---

1. वर्तमान साहित्य - जून 2002 - पृ. 294



है। यह उनकी सुरक्षा का भी सवाल है। भारत की अपनी एक राष्ट्रीय संस्कृति है जो मूल्यों पर आधारित है। हालाँकि इस सांस्कृतिक माहौल का निरन्तर विरूपीकरण हो रहा है। इसके पीछे हमारी अपनी अन्दरूनी विडंबनाएँ और नवऔपनिवेशिक साजिशें ही कार्यरत हैं।

समकालीन कविता सही अर्थ में मनुष्य के साथ होने की भूमिका निभा रही है। वह भूमण्डलीकरण की अवधारणा वाले वर्तमान दौर की चुनौतियों का सामना कर रही है। वह सामाजिक इतिहास के मानवतावादी आकांक्षाओं को अपने में समेटते हुए आगे बढ़ रही है। सामान्य मनुष्य को केन्द्र में रखते हुए तमाम असुरक्षित स्थितियों के खिलाफ वह अपनी संवेदनशीलता दिखा रही है।

## अध्याय - 2

समकालीन कविता के संवेदनात्मक विकास में  
आधुनिक कविता की भूमिका

## समकालीन कविता की समकालीनता

समकालीन कविता की समकालीनता पर विचार-विमर्श आधुनिकता को नज़रअन्दाज़ करके संभव नहीं है। 'समकालीनता' शब्द में खास काल बोध का अर्थ निहित है। समकालीन शब्द से वर्तमानता की ध्वनि अवश्य आती है। लेकिन इस अर्थ में उसे सरलीकृत नहीं किया जा सकता। "समकालीनता एक ठहरी हुई, गतिहीन और जड स्थिति नहीं है बल्कि ठहराव, गतिहीनता और जडता को सख्ती और निर्ममता से तोड़नेवाली यह गतिमान ऐतिहासिक प्रक्रिया और चेतना है।"<sup>(1)</sup> समकालीनता अपने में वर्तमान की समस्याओं और स्थितियों की सतह तक सीमित न रहकर वस्तुतः उन्हें ऐतिहासिक सन्दर्भों के साथ परखने की माँग करती है। तत्कालीन दबावों का अतिक्रमण करते हुए समस्याओं के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य की समझ समकालीनता की अनिवार्यता है। इसी मायने में वह समकालीनता के सरलीकरण से बचती है। समकालीन कविता समकालीनता के इतिहास और भविष्य के व्यापक अर्थ को लेकर आगे बढ़ रही है। मुक्तिबोध के सन्दर्भ में कही गयी बात यहाँ उल्लेखनीय है कि "मुक्तिबोध

---

1. नरेन्द्र मोहन - समकालीन कहानी की पहचान, सं. 1987 भूमिका से

कवियों को जो सबसे बड़ा सन्देश देते हैं वह यह कि जिस कविता का क्षेत्र स्वयं कवि न होकर इतिहास होता है वह कभी समाप्त नहीं होती। उनकी इस उक्ति का कि “नहीं होती कहीं भी खत्म कविता नहीं होती’ का यही मतलब है।”<sup>(1)</sup> समकालीन कविता अपना सरोकार इतिहास से रखती है। इसके ज़रिए वह समकालीनता की गहरी पहचान देती है और वह भविष्य की कविता भी होती जा रही है।

समकालीनता के सन्दर्भ में रघुवीर सहाय का विचार विशेष उल्लेखनीय है - “मेरी दृष्टि में समकालीनता मानव भविष्य के प्रति पक्षधरता का दूसरा नाम है। भविष्य के प्रति, नियति के प्रति नहीं।”<sup>(2)</sup> आगे उन्होंने लिखा है कि “मनुष्य की प्रतिभा और सामर्थ्य की अनन्त संभावनाओं का द्वोर अपने अनुभव के लिए खुला रखकर सप्रयत्न उसके वर्तमान को बदलने में जो संलग्न होता है वही समकालीनता का धर्म-निर्वाह करता है। ....मेरे निकट मानव भविष्य में एक ऐसे जीवन की कल्पना निहित है जिसे आज की भाषा में हम समाजवाद कहते हैं।”<sup>(3)</sup> मनुष्य स्वयं इतिहास का निर्माता है। उसका वर्तमान कभी उसकी नियति नहीं है। उसे बदलकर भविष्य निर्माण की क्षमता में उसकी सार्थकता निर्भर है। यानी मनुष्य को केन्द्र में रखकर उसके वर्तमान को नियति न मानकर उसमें परिवर्तन लाने और उसके लिए भविष्य निर्माण का संकल्प समकालीनता का व्यापक अर्थ

---

1. वर्तमान साहित्य (कविता विशेषांक) अप्रैल-मई 1992 - पृ. 330

2. रघुवीर सहाय - यथार्थ यथास्थिति नहीं, सं. 1994 - पृ. 72, 73

3. वहीं

है। यानी समकालीनता वर्तमान से सार्थक मुठभेड है। यह उसकी मनुष्योन्मुखी प्रकृति है।

समकालीनता के सन्दर्भ में अहम सवाल है कि वह जिस समय में खडी है उसमें कहाँ तक समकालीन होने की अनिवार्यता निभा रही है। काल की निरन्तरता के साथ ही साथ वह अपने समय की खास पहचान है। शिवकुमार मिश्र के शब्दों में “समकालीन वह है, या उसे कह जाना चाहिए जो अपने समय की खास शिनाख्त से जुडा हो, अपने समय के खास वजूद, उसके अपने खास चेहरे और उसके अपने विशिष्ट तेवरों को जानता पहचानता हो।”<sup>(1)</sup> दूसरे शब्दों में “समकालीनता अपने काल की समस्याओं और चुनौतियों में भी केन्द्रीय महत्व रखनेवाली समस्याओं की खास समझ से समकालीनता उत्पन्न होती है।”<sup>(2)</sup> समकालीनता अपने समय की गहरी समझ की उपज है।

### आधुनिकता और समकालीनता

समकालीनता को उसकी गहराई में समझने के लिए आधुनिकता की खास पहचान भी अनिवार्य है। आधुनिकता भी इतिहास और भविष्य के संवाद की माँग के तहत अपना व्यापक अर्थ देती है। दूसरे शब्दों में “आधुनिक चेतना अपनी आधुनिकता के बावजूद त्रिआयामी होती है, उसके अर्थ को वर्तमान के अलावा मनुष्य के गत और आगत से जोड़कर भी देखा और समझा जा सकता है, आधुनिकता समसामयिकता का निषेध

1. सं. डॉ. ए. अरविदाक्षन - कविता का यथार्थ, प्र.सं. 2003 - पृ. 63

2. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय - समकालीन सिद्धान्त और साहित्य, प्र.सं. 1996 - पृ. 17

नहीं करती है, उसे गहरा बनाती है और उसका अतिक्रमण भी करती है।”<sup>(1)</sup> आधुनिकता किसी भी समय में मनुष्य को मूल्यों के प्रति सजग बनाती है। मूल्यहीनता के सन्दर्भ में मनुष्य को गुमराह न होने देकर अपनी खास भूमिका निभाती है। वह अपने में बदलाव का संकल्प भी रखती है। मनुष्य को केन्द्र में रखकर उसे स्वाधीनता की ओर ले जाती है।

समकालीनता आधुनिकता बोध को अपने में समेटते हुए समकालीन होने की सही पहचान दे रही है। आधुनिकता से प्राप्त मूल्य दृष्टि को लेकर समकालीनता विकास पायी है। दूसरे शब्दों में आधुनिकता आज समकालीनता के रूप में अपनी पहचान दे रही है। ऐतिहासिक सन्दर्भ में आधुनिकता एक ओर वैश्विक होने का प्रयास कर रही थी तो दूसरी ओर वह अपना व्यापक अर्थ दे रही थी। अपनी देशज अस्मिता को बरकरार रखने की जबरदस्त कोशिश उसकी क्रान्तिकारी भूमिका है। शंभुनाथ के शब्दों में “आधुनिकीकरण के सम्पर्क में ही आधुनिकताबोध का जन्म होता है। इस आधुनिकताबोध को जातीय चरित्र मिलता है लोक जीवन से जो, आज भी मुख्यतः गाँव का जीवन है।”<sup>(2)</sup> भारतीय सन्दर्भ में आधुनिकता का चरित्र यही हो सकता है। समकालीन कविता वैश्विक होने का प्रयास नहीं बल्कि देश की कविता होने की भूमिका निभा रही है। डॉ. अरविन्दाक्षन के शब्दों में “आधुनिकता की वास्तविक जड़ों के माध्यम से जल का अंश स्वीकार करके समकालीनता ने हमारी अपनी हवा के बीचोंबीच आच्छादन निर्मित किया।”<sup>(3)</sup> आधुनिकता और समकालीनता का यही पारस्परिकता है।

- 
1. शिवकुमार मिश्र - आलोचना के प्रगतिशील आयाम, प्र.सं. 1987 - पृ. 59
  2. सं. डॉ. ए. अरविन्दाक्षन - कविता का यथार्थ, प्र.सं. 2003 - पृ. 15
  3. डॉ. ए. अरविन्दाक्षन - समकालीन हिन्दी कविता, सं. 1998 - पृ. 15

## समकालीन कविता के विकास में आधुनिक कविता की भूमिका

समकालीन कविता छायावादी, प्रगतिवादी व नयी कविता के सार्थक पक्षों को लेकर विकास पायी है। छायावादी कवि निराला, प्रगतिवादी कवि नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल और नयी कविता के बहुतों की रचनार्थमिता को आत्मसात करते हुए समकालीन कविता जनचरित्र की रूप ले रही है। पूर्ववर्ती काव्यधाराओं में नयी कविता का रचना परिदृश्य विस्तृत है। समकालीन कविता के रचना परिदृश्य के विकास में उसकी खास भूमिका है। यही नहीं आधुनिक कवियों में से कई, समकालीन कवि हुए हैं। विचारणीय बात यह है कि नयी कविता आधुनिकता की पहचान देने में कहाँ तक सक्षम हुई थी और अपने दौर की समस्याओं के प्रति उसकी संवेदनशीलता किस हद तक मुखर हुई थी।

### नयी कविता

आधुनिकतावाद के दबाव के बावजूद नयी कविता के कुछ कवि अपने परिवेश, ज़मीन व अवाम से जुड़ने का प्रयास करते रहे। आधुनिकतावाद के दबाव को तोड़ने का भरसक प्रयास हो रहा था। समकालीन कविता का जनोन्मुखी आयाम इन्हीं सार्थक पक्षों से विकास पाया था। वे आधुनिकता की सही पहचान देते हुए नयी कविता के आधुनिक कविता होने का परिचय दे रहे थे। सांस्कृतिक प्रगतिशीलता को इन कवियों ने दर्ज किया। मुक्तिबोध के शब्दों में “नयी कविता के क्षेत्र में कुछ भारतीय व्यक्तित्व की, भारतीयता की रक्षा चाहती है; वे आवाज़ें ऐसी हैं जो भारतीय व्यक्तित्व को पश्चिमी जगत से नहीं, वरन् एशिया, लैटिन अमेरिका, दक्षिण आफ्रिका से जोड़ना

चाहती है। इन देशों में समाज परिवर्तन, संघर्ष और निर्माण की प्रक्रिया जारी है।”<sup>(1)</sup> कवि केदारनाथ सिंह के शब्दों में “हमारे सांस्कृतिक जीवन पर जो औपनिवेशिक दबाव अब भी बना हुआ था, उसके चलते हमें इस एहसास तक पहुँचने में लम्बा समय लगा कि उन भू-भागों में जो घटित हो रहा है, उससे हमारी सोच और संवेदना के तार कहीं न कहीं मिलते हैं। .....इस अन्तराल में हिन्दी के नये कवियों द्वारा आधुनिकता के मान-मूल्य वहीं देखे और तलाशे जा रहे थे, जहाँ खुद वे अप्रासंगिक होते जा रहे थे। लेकिन इस बीच भी हिन्दी आधुनिकता की जो मुख्य धारा थी, वह चुपचाप सक्रिय थी। अपनी गतिमयता के स्रोत कहीं और नहीं, अपने परिवेश की इन्हीं जानी पहचानी परिस्थितियों के भीतर खोज रही थी, जिनके बीच वह सक्रिय थी। मुक्तिबोध, शमशेर, नागार्जुन, त्रिलोचन आदि इसी धारा के कवि थे.... इन कवियों के निकट आधुनिकता वस्तुतः मुक्ति की आकांक्षा है।”<sup>(2)</sup>

प्रगतिवादी कवि नागार्जुन, त्रिलोचन और केदारनाथ अग्रवाल तो नयी कविता के में शामिल नहीं किये गये। शतियुद्ध की राजनीति से प्रभावित नयी कविता में जिन अवधारणाओं को प्रधानता दी जा रही थी, इन कवियों की रचनाधर्मिता इनसे मेल नहीं खा रही थी। इसी राजनीति के तहत ये तीनों कवि अलग दिखाई पड़ते हैं। लेकिन समय के साथ यह सच्चाई साफ उभर आयी है कि वे सच्चे अर्थ में समकालीन के कविता के मुख्य प्रेरक बने हैं। त्रिलोचन, नागार्जुन और केदारनाथ अग्रवाल लोक को अपनी कविता के केन्द्र में रखनेवाले कवि भी हैं।

---

1. सं. नेमिचन्द्रजैन - मुक्तिबोध रचनावली-5, सं. 1980 - पृ. 309

2. केदारनाथ सिंह - मेरे समय के शब्द, प्र.सं. 1993 - पृ. 13



## कविता की लोकधर्मिता - नागार्जुन

नागार्जुन की कविदृष्टि अपनी काव्ययात्रा की शुरुआत से लेकर यथार्थवादी रही है। मार्क्सवादी रचना दृष्टि के कारण, समाज के अन्तर्विरोध और उसके पीछे कार्यरत मूल्यहीन व्यवस्था के खिलाफ वे अपनी प्रतिक्रिया दर्ज करते हैं। अवाम की ज़िन्दगी को दूभर बनानेवाली शोषक शक्तियों के विरुद्ध उनकी कविता आक्रामक स्वर भी अपनाती है। परमानन्द श्रीवास्तव के अनुसार “प्रगतिशील यथार्थवादी धारा के कवियों में नागार्जुन प्रखर जीवनधर्मिता और अद्वितीय साहस के कवि हैं। प्रतिहिंसा को अपनी कविता का स्थायी भाव बताने के पीछे नागार्जुन का सात्विक क्षोभ और विद्रोह है जो उनका अकेले का अनुभव नहीं, समस्त शोषित पीड़ित जनता का अनुभव है।”<sup>(1)</sup> अवाम के साथ रहकर उनकी आकांक्षाओं और संघर्षों को अपने में समेटते हुए उन्हीं के लिए आवाज़ उठाना नागार्जुन की कविता का जनवादी चरित्र है। शिवकुमार मिश्र लिखते हैं “जनता के दैनंदिन जीवन में नागार्जुन की यह भागीदारी, उसके संघर्षों में नागार्जुन का यह साथ, जनता की सोच के साथ उनकी अपनी सोच का यह एकात्म, नागार्जुन की रचना के जनवादी चरित्र को निर्मित करता है;..... विद्यमान सामाजिक परिदृश्य के प्रति जनता के एक-एक तेवर को पहचानते हुए अपनी कविता में उन्हें जीवन्तता के साथ प्रस्तुत करना, नागार्जुन की कविता के जनवादी चरित्र का ही प्रमाण है।”<sup>(2)</sup>

---

1. परमानन्द श्रीवास्तव - शब्द और मनुष्य, सं. 1988 - पृ. 18, 19

2. शिवकुमार मिश्र - दर्शन साहित्य और समाज, सं. 1992 - पृ. 58

प्रतिहिंसा की आवाज़ ही नहीं बल्कि सादगी के अन्दाज़ में भी उनकी कविता लोकबद्धता का प्रमाण देती है। नयी कविता के दौर की उनकी कविताएँ लोक की बुनियादी प्रतिरोधी क्षमता को लेकर समकालीन कविता की राह बनती है। आधुनिकतावाद का सही प्रतिरोध उनकी रचनार्थमिता का प्रबल पक्ष है। नयी कविता के मूलस्वर अनास्था के खिलाफ देशीपन को दर्ज करते हुए आस्थावादी दृष्टि का परिचय उनकी कविता की खासियत है। केदारनाथ सिंह का मानना है कि “नागार्जुन और उनके सहधर्मी कवि त्रिलोचन अपने पूरे काव्य में जाने अनजाने पश्चिम के सांस्कृतिक दबाव के विरुद्ध क्रियाशील रहे हैं। पश्चिम से मेरा तात्पर्य उस पश्चिम से हैं, जिसके साहित्य और कला का स्वाधीनता के बाद के वर्षों में, हमारे साहित्य पर प्रभाव पड़ा है। ऐसे किसी भी प्रभाव के प्रति नागार्जुन की रचनाशीलता के भीतर एक विलक्षण प्रतिरोधात्मक शक्ति निरन्तर सक्रिय रही है।”<sup>(1)</sup>

नागार्जुन की रचनाशीलता मूलतः गाँव से जुड़ी हुई है। ‘सिन्दूर तिलकित भाल’ गाँव के प्रति संवेदनशीलता की कविता है। इसे कवि की व्यक्तिगत कविता भी कहीं जाती है। गाँव के विविध पहलुओं की आकांक्षा के तहत, व्यक्तिगत सीमा का अतिक्रमण कविता की प्रकृति है। गौरतलब है कि “उनकी गाँव सम्बन्धी कविताओं का गहराई से अध्ययन किया जाये तो पता चलेगा कि इस सम्बन्ध के पीछे नोस्टेल्जिया या ‘घर की याद’ जैसी किसी चीज़ की कोई भूमिका नहीं है। वस्तुतः नागार्जुन की गाँव सम्बन्धी

---

1. केदारनाथ सिंह - मेरे समय के शब्द, सं. 1993 - पृ. 55

चेतना का ठोस और मज़बूत वैचारिक आधार है।”<sup>(1)</sup> वस्तुस्थितियों के बीच ही उनकी कविताएँ विकास पाती हैं। प्रस्तुत कविता में गाँव के संघर्ष का कहीं भी ज़िक्र नहीं है। फिर भी व्यापक तौर पर हो रहे शहरीकरण के दौर में गाँव को, अपनी स्थानीयता को बचाने की आकांक्षा कविता दर्ज करती है। सांस्कृतिक उपनिवेशन के तहत अपनी संवेदनशीलता की तबाही किसी भी मूल्य में उन्हें स्वीकार्य नहीं है। जन-साधारण से अलग होना भी उनके यहाँ कविता कर्म की तबाही है।

शहर की आपाधापी, सूनापन, अजनबीपन, अकेलेपन के माहौल में कवि को गाँव की ‘सिन्दूर तिलकित भाल’ यानी गाँव की साँझ ‘सूरज के उदित और डूबते वक्त दिखायी देनेवाली स्वर्णाभ की याद सता रही है। शहर ‘घोर निर्जन’ का अहसास दे रहा है और मन में लगातार सवाल उठते रहते हैं कि ‘चाहिए किसको नहीं सहयोग? / चाहिए किसको नहीं सहवास? / कौन चाहेगा कि उसका शून्य में टकराय यह उच्छ्वास?’<sup>1</sup> शहर की आबोहवा में अपने आपको घुटते पाकर भी उनका मन अनास्था का शिकार नहीं है। गाँव की आत्मीयता के प्रति कविमन की सहज आकांक्षा कि याद आते स्वजन -

*जिनकी स्नेह से भीगी अमृतमय आँख / स्मृति-विहंगम को कभी  
थकने न देंगी पाँख / याद आता मुझे अपना वह तरुनी ग्राम /  
याद आती लीचियाँ, वे आम।”<sup>(2)</sup>*

1. केदारनाथ सिंह - मेरे समय के शब्द, सं. 1993 - पृ. 56

2. सं. प्रभाकर माचवे - नागार्जुन, सं. 1999 - पृ. 50

भारत की आत्मा की निरन्तर तलाश ज़रूर उनकी मूलभूत सांस्कृतिक चेतना का परिचायक है। वे ऐसे लोगों के साथ हैं जो अपने श्रम के बलबूते जीते हैं और आचरण के तौर पर सही अर्थ में सांस्कृतिक होने का परिचय देते हैं। भारतीयता की यही तलाश उनकी लोकधर्मी चेतना है।  
मसलन-

“याद आते शस्य-श्यामल जनपदों के / रूप गुण-अनुसार ही रखे गए वे नाम।”<sup>(1)</sup>

शहरीकरण के दबाव में तबाह हो रहे गाँव को केन्द्र में रखते हुए कवि की ‘अन्न-पानी, भाजी-भाग, फूल फल और कंदमूल, अनेकविध मधुमाँस की माँग सहज स्वाभाविक है। गाँव के प्रति उनकी यह आकांक्षा निस्सन्देह उनकी मानवीय पक्षधरता का ही परिचायक है।

### श्रम सौन्दर्य और जिजीविषा की तलाश - केदारनाथ अग्रवाल और त्रिलोचन

श्रमरत मनुष्य को केदार नाथ अग्रवाल की कविता केन्द्र में लाती है। अहममुद्दा बनाती है। फिर भी उनकी कविताएँ ग्राम्य जीवन की संघर्षरत स्थिति से नहीं बल्कि सुन्दरपक्ष से अपना सरोकार रखती हैं। दूसरे शब्दों में “वे ग्रामीण जीवन के कवि इस दृष्टि से हैं कि गाँव में अभी जो सुन्दर है, और वह है, उसे वे बचा लेना चाहते हैं। ....इस सुन्दर का शेषण और अत्याचार के विरुद्ध लड़ने में उपयोग न हो, लेकिन मनुष्य को मनुष्य बनाये रखने में उसका उपयोग अवश्य है।”<sup>(2)</sup> स्पष्ट है कि मनुष्य को मनुष्य बनाये

1. केदारनाथ सिंह - मेरे समय के शब्द, सं. 1993 - पृ. 50

2. वर्तमान साहित्य (कविता विशेषांक) अप्रैल-मई 1992 - पृ. 328, 329

रखने वाली संस्कृति के प्रति वे सजग हैं। सांस्कृतिक दबाव के तहत मनुष्य में जो सौन्दर्यबोध व नैतिक बोध विकास पाते हैं उनके प्रति भी वे संवेदनशील हैं।

कविता में वे श्रमरत मनुष्य को प्रश्रय देते हैं। भविष्य निर्माण में श्रम की भूमिका के प्रति वे सजग हैं। अतः पूँजीवादी शोषण के तहत वे श्रम को महत्व देते हैं। प्रतिगामी स्थितियों से जब मानवीय संकट उपस्थित होता है तो यह प्रगतिशीलता का रास्ता हो सकता है। संस्कृति ही परिवेश को अनुकूल बनाने की ऊर्जा देती है। उसे बरकरार रखने की संकल्पना उनकी कविता का मानवीय पक्ष है। 'छोटे हाथ' शीर्षक कविता में किसानों के श्रमरत हाथों को कमल के रूप में देखा है। किसानों के हाथों को कमल के रूप में देखने के बहाने सौन्दर्य और श्रम को एक साथ पिरोकर श्रम के परिणाम को देखना चाहते हैं। वे सौन्दर्य से परिचित हैं, उसे नष्ट करने वाली ताकतों से भी परिचित हैं। मार्क्सवादी प्रेरणा के रहने लाल-कमल क्रान्ति का प्रतीक भी हो सकता है। भविष्य निर्माण में इन हाथों की या क्रान्ति की भूमिका के प्रति वे सजग हैं। उन्हें भरोसा है कि -

*“किसानी करते / बीज नये बोया करते हैं। / आनेवाले वैभव के दिन / ऊँगली से रोपा करते हैं।”<sup>(1)</sup>*

कवि बेहद आस्थावान दिखाई दे रहे हैं। उनका मार्क्सवादी नज़रिया किसानों और मज़दूरों की श्रमशक्ति की पहचान करता है।

---

1. सं. रामविलास शर्मा - श्रम का सूरज; केंदारनाथ अग्रवाल की कविताएँ, प्र.सं. 1986 - पृ. 56

समकालीन कविता की लोकप्रकृति और जनवादी चेतना निस्सन्देह नागार्जुन, त्रिलोचन और केदारनाथ अग्रवाल की रचनाधर्मिता की निरन्तरता है। जनता के जीवन यथार्थ की सही पहचान के साथ ही साथ उनकी ताकत व साहस पर भरोसा रखनेवाली जनवादी चेतना समकालीन कविता में आकर और विस्तार पायी है।

### त्रिलोचन

त्रिलोचन की कविदृष्टि नागार्जुन की भाँति तीखी नहीं है। प्रखरता के स्थान पर सादगी के स्वर को अपनाने पर भी संवेदना का ताप उनमें भरपूर यात्रा में है। उनकी कविताओं में राजनीति से टकराने की कोशिश नहीं है फिर भी वे अपने समय के प्रति सजग हैं। भारत की औसत ज़िन्दगी अपनी खूबियों एवं खामियों के साथ उनके यहाँ सुरक्षित है। मानवीय मूल्यों की उपस्थिति उनकी कविताओं की पहचान है। मैनेजर पाण्डेय के अनुसार “त्रिलोचन घटनाओं के कवि नहीं है वे मूल्यों के कवि है। उनकी कविता में सामाजिक राजनीतिक घटनाओं का चित्रण-वर्णन कम हुआ है। मानव जीवन की दशाओं और अनुभवों की अभिव्यक्ति अधिक है। वे मानवीय अनुभवों और जीवन दशाओं की अभिव्यक्ति करते हुए संघर्ष आस्था, जिजीविषा, प्रेम, न्याय जैसे जीवन मूल्यों की व्यंजना करते हैं।”<sup>(1)</sup>

आधुनिक कविता की प्रादेशिकता उनकी कविताओं में सुरक्षित है। औपनिवेशिक दबाव के तहत लोक संस्कृति का जो विघटन हो रहा है

---

1. डॉ. गोविन्द प्रसाद - त्रिलोचन के बारे में - पृ. 157, 158

उसके खिलाफ उनका लोक सक्रिय है। उल्लेखनीय है कि “परिवेश में व्याप्त अन्धेरे का चित्रण करना वर्तमान की ज़रूरत होती है लेकिन मनुष्य के भविष्य की मंजिल नहीं। मनुष्य के भावी की दिशा का पंथ क्रियाशील जीवन ने आलोकित किया है और किसी समाज में सर्वाधिक क्रियाशील शक्ति के रूप में लोक होता है।”<sup>(1)</sup> त्रिलोचन की कविताओं में यही लोक अपनी पूरी सक्रियता के साथ विद्यमान है। उनकी कविता व्यवस्था जन्य यथार्थ के तहत निराशा, अविश्वास, अनास्था सरीखे नकारात्मक भावों के शिकार होकर निष्क्रिय रहने के खिलाफ है। केदारनाथ सिंह के अनुसार “त्रिलोचन एक खास अर्थ में आधुनिक है और सबसे आश्चर्यजनक बात तो यह है कि वे आधुनिकता के सारे प्रचलित साँचों के अस्वीकार करते हुए भी आधुनिक है।”<sup>(2)</sup> जीवन सिंह के अनुसार “नागार्जुन, केदार, मुक्तिबोध की जनकाव्य परम्परा में त्रिलोचन सर्वाधिक लोकसंस्कारी कवि है। उनका लोक काव्यत्व इनको ऐसी ‘आधुनिकता’ से बार-बार रोकता टोकता है जो अपनी परम्परा की उर्वरभूमि से अपना रस नहीं लेती।”<sup>(3)</sup> श्रम के बलबूते मानवीय ऊर्जा को निरन्तर कायम रखनेवाले पात्रों से सम्पन्न है उनकी कविता।

---

1. जीवनसिंह - कविता की लोक प्रकृति - पृ. 14

2. केदारनाथ सिंह - मेरे समय के शब्द, सं. 1993 - पृ. 78

3. जीवनसिंह - कविता की लोक प्रकृति - पृ. 14

## समझौता रहित संघर्ष की कविता मुक्तिबोध

“समस्या एक य मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों में य सभी मानव य सुखी सुन्दर व शोषण मुक्त य कब होंगे?”<sup>(1)</sup>

यही मुक्तिबोध की रचनार्थिमाता की बुनियादी चिन्ता रही है। इस बेचैनी का आधार निस्सन्देह उनकी वह पहचान है कि लोकतान्त्रिक व्यवस्था के भीतर तानाशाही व्यवस्था पल रही है। ‘भूतपूर्व विद्रोही का आत्मकथन’ में उन्होंने लिखा है कि “दुःख तुम्हें भी है/दुःख मुझे भी/हम एक ढहे हुए मकान के नीचे/दबे हैं/चीख निकलना भी मुश्किल है/असंभव.../हिलना भी।”<sup>(2)</sup> यानी पूँजीवादी व्यवस्था में सर्वहारा लगातार शोषण व दमन का शिकार होता जा रहा है। इस खौफनाक माहौल से सर्वहारा की मुक्ति उनकी रचनाओं का ‘संवेदनात्मक उद्देश्य’ रहा है। रचना के मूलतत्त्व के रूप में संवेदनात्मक उद्देश्य पर ज्यादा बल देते हैं। उनके अनुसार ‘संवेदनात्मक उद्देश्य का धक्का’ रचना के तीनों क्षणों में विद्यमान रहता है। इससे गुज़रते वक्त बाह्य यथार्थ का आभ्यन्तरीकरण और आभ्यन्तर का बाह्यीकरण भी होता है। इसी को उन्होंने आत्मसंघर्ष से जोड़ा है।

मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी अपने वर्गगत संस्कारों के कारण व्यापक सामाजिक सन्दर्भ और जनसाधारण से अलग रहा, नयी कविता की सीमाओं का यही कारण रहा। उपर्युक्त मध्यवर्गीय निजबद्धता के दबाव के

1. सं. नेमिचन्द्रजैन - मुक्तिबोध रचनावली-2, सं. 1980 - पृ. 243

2. वहीं - पृ. 134



मद्देनज़र मुक्तिबोध कविता को 'सांस्कृतिक प्रक्रिया' मानते हुए रचनाकार के व्यक्तित्व संशोधन पर बल देते हैं - "मुख्य प्रश्न बाह्य अनुरोधों और आग्रहों की दृष्टि से जीवन के आभ्यन्तरीकरण का है अर्थात् अपने व्यक्तित्व के, अपने कलाकार व्यक्तित्व के संशोधन तथा पुनः संशोधन का है न कि केवल नवीन दृष्टि की अभिव्यक्ति का। दूसरे शब्दों में मुख्यप्रश्न कलाकार के जीवन्त संवेदनशील मन का है, जो अन्तर्बाह्य तत्वों का आकलन, ग्रहण तथा सम्पादन संशोधन किया करता है।"<sup>(1)</sup> वे रचनाकार से वर्गगत संस्कारों से उबरने की माँग करते हैं। स्वयं संघर्षरत भी रहते हैं। मुक्तिबोध आत्मसंघर्ष के कवि रहे हैं। अपनी वर्गगत कमज़ोरियों से उबरकर सर्वहारा से तादाकर पाने की प्रक्रिया बहुत ही जटिल है। इससे गुज़रते हुए वे अपनी प्रतिबद्धता या ऐतिहासिक भूमिका निभाने के लिए संकल्पबद्ध रहे। उनके आत्मसंघर्ष को इसी संकल्पबद्धता से जोड़कर देखना है। नन्दकिशोर नवल के शब्दों में "मुक्तिबोध का आत्मसंघर्ष उनका अपना संघर्ष होते हुए भी पूरे सचेत प्रगतिशील मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी समुदाय का संघर्ष है और उसका संघर्ष होते हुए भी वह उनका अपना संघर्ष है। यह संघर्ष वस्तुतः वर्ग संघर्ष की छाया है, जिसकी द्वन्द्वात्मकता उनके यथार्थ-बोध के साथ बढ़ती गई है। उनका उद्देश्य आत्मसंघर्ष के माध्यम से एक 'सृजनात्मक व्यक्तित्व' का निर्माण करना था, जिससे समाज में परिवर्तन घटित हो सके। इसमें उन्होंने व्यक्ति की सक्रियता की निर्णायक भूमिका मानी है। इस सम्बन्ध में यह भी ज्ञातव्य है कि उनमें सिर्फ

---

1. सं. नेमिचन्द्रजैन - मुक्तिबोध रचनावली-5 - पृ. 431

आत्मसंघर्ष ही नहीं है “संकल्पधर्मी चेतना का रक्तप्लावित स्वर’ भी है।”<sup>(1)</sup> नयी कविता के अधुनिकतावादी मुहावरे को तोड़कर सर्वहारा की मुक्ति की आकांक्षा के रूप में आधुनिकता की सबसे प्रखर पहचान देने की कोशिश उनकी सांस्कृतिक प्रगतिशीलता है। नयी कविता के प्रचलित मुहावरों से उनकी कविताओं को अलग करनेवाला तत्व भी यही है। शंभुनाथ लिखते हैं - “मुक्तिबोध की कविता में नयी परिस्थितियों से जितना घनघोर संघर्ष है, आत्मगत संस्कारों से भी उतना ही भयंकर युद्ध है, जो कवि को अस्तित्ववाद, रहस्यवाद तथा प्रयोगवाद की ओर नहीं ले जाता, एक प्रगतिशील विवेकवादी आस्था की ओर ले जाता है। वैयक्तिक स्तर पर साम्राज्यवाद, सामन्तविरोधी संघर्ष की ओर ले जाता है, जिसका खास महत्व है।”<sup>(2)</sup>

उल्लेखनीय है कि “मुक्तिबोध कवियों को जो सबसे बड़ा सन्देश देते हैं, वह यह कि जिस कविता का स्रोत स्वयं कवि न होकर इतिहास होता है, वह कविता कभी समाप्त नहीं होती।”<sup>(3)</sup> जाहिर है कि मुक्तिबोध की कविताएँ गहरे इतिहासबोध से ओतप्रोत हैं। वर्तमान समस्याओं की मूल इतिहास में हैं। अतः उन्हें ऐतिहासिक सन्दर्भों में पहचानने की माँग उनकी कविता करती है। उनके इतिहासबोध में पूँजीवादी व्यवस्था में पनपनेवाली फासिस्ट तानाशाही की पहचान है, मध्यवर्ग की आत्मकेन्द्री दृष्टि की पहचान है और जनता की ताकत पर उन्हें पूरा भरोसा है। इतिहास की

---

1. नन्दकिशोर नवल - मुक्तिबोध ज्ञान और संवेदना, सं. 2000 - पृ. 10, 11

2. शंभुनाथ, दूसरे नवजागरण की ओर, सं. 1993 - पृ. 85

3. वर्तमान साहित्य (कविता विशेषांक) अप्रैल-मई 1992 - पृ. 313

वैकल्पिक संभावनाओं के प्रति भी वे सजग हैं। इतिहासबोध के तहत अपने समय के संकट को गहराई से पहचानते हैं और भविष्य के सन्दर्भ में चेतावनी भी देते हैं कि -

“कविता में कहने की आदत नहीं, पर कह दूँ / वर्तमान समाज  
चल नहीं सकता / पूँजी से जुड़ा हुआ हृदय बदल नहीं सकता /  
स्वातन्त्र्य व्यक्ति का वादी / छल नहीं सकता मुक्ति के मन को /  
जन को।”<sup>(1)</sup>

पूँजीवादी तानाशाही की पहचान के साथ ही साथ जनता उनके यहाँ निर्णायक शक्ति है। अब तक दबी रही शोषित जनता जब एकजुट होकर क्रान्ति करेगी तब पूँजीवादी सत्ता की हार अवश्यंभावी है। इसकी प्रबल अभिव्यक्ति ‘अन्धेरे में’ कविता में हुई है। यह कविता भी तीन आयामों से गुज़रती है। मध्यवर्गीय बुद्धिजीवि का आत्मसंघर्ष उनकी कमज़ोरियाँ; जनक्रान्ति और फासिस्ट तानाशाही। नामवर सिंह ने ‘अन्धेरे में’ कविता को ‘अस्मिता’ की खोज की कविता कहा है। लेकिन चंचल चौहान ने संकेत किया है कि “सत्य यह है कि मुक्तिबोध की किसी भी कविता का मूलकथ्य ‘अस्मिता की खोज नहीं है बल्कि उनके काव्य का संवेदनात्मक उद्देश्य है - अस्मिता का विलय, ‘व्यक्तित्वान्तर’, सर्वहारा वर्ग में अपनी मध्यवर्गीय ‘अस्मिता का विलय’। ‘...अन्धेरे में कविता अपनी नाटकीयता और कलात्मकता के साथ ऐसे ही मध्यवर्गीय वाचक के ‘व्यक्तित्वान्तर’ की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया की कहानी है।”<sup>(2)</sup> नन्दकिशोर नवल के शब्दों में “यह

1. सं. नेमिचन्द्रजैन - मुक्तिबोध रचनावली-5 - पृ. 350, 351

2. चंचल चौहान - मुक्तिबोध के प्रतीक और बिंब, प्र.सं. 1997 - पृ. 114, 15

कविता व्यक्ति से ज़रूर शुरू होती है लेकिन व्यक्ति के आत्मसंघर्ष का एक बहुत ही सुदृढ़ सामाजिक सन्दर्भ है, वह सन्दर्भ है नगर में लगा हुआ मार्शल लाँ। जुलूस से लेकर जनक्रान्ति तक का वर्णन इसी से सम्बन्धित है। ...अन्धेरे में की मुख्यवस्तु है देश में कायम फासिस्ट हुकूमत और उससे लगा हुआ है उस परिस्थिति में एक सचेत और प्रगतिशील मध्यवर्गीय बुद्धिजीवि का आत्मसंघर्ष।”<sup>(1)</sup>

कविता का आरंभ रहस्यमय व्यक्ति के वर्णन से होता है। कमरे के अन्धेरे में वह लगातार चक्कर लगाता रहता है। पैरों की आवाज़ सुनायी देती है, दिखायी नहीं देता। काव्यनायक की परेशानी बढ़ती है, साथ ही माहौल भी भयानक हो रहा है कि 'गिरते हैं अकस्मात् फूले हुए पलस्तर, गिरती है चूनेभरी रेत और पपडियाँ खुद-ब-खुद खिसकती है।' माहौल की भयावहता के साथ काव्यनायक की परेशानी भी उत्तरोत्तर बल पकड़ता है। इस बीच चेहरा दीवार पर उभर कर आता है 'नुकीली नाक, भव्यललाट, दृढ़ हनु' वाला रूप साफ दिखायी देता है। यह आकृति पुनः तालाब के काले जल में उभरती है। इस दरमियान भी परिवेश खौफनाक हो जाता है। पेड़ों के अन्धेरे में छिपी हुई एक तिलस्मी खोह का शिलाद्वार धड से खुलता है। इस अन्धेरे में लाल कुहरे में से रक्तालोक स्नात पुरुष दिखाई देता है।

जिस रहस्यमय व्यक्ति व माहौल को फैंटेसीकृत किया गया है उसकी यथास्थिति आगे खुलती है। वे पहचान लेते हैं कि उन्हें संवेदनात्मक

---

1. नन्द किशोर नवल - अंधेरे में एक विश्लेषण, सं. 1998 - पृ. 13, 14

धक्का लगा है। 'संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदन' से उन्हें जो बाह्य यथार्थ परेशान कर रहा है उसी की ओर इशारा है -

“वह रहस्यमय व्यक्ति / अब तक न पायी गयी मेरी अभिव्यक्ति  
है, / पूर्ण अवस्था वह / निज संभावनाओं, निहित प्रभाओं,  
प्रतिभाओं की / मेरे परिपूर्ण का आविर्भाव, / हृदय में रिस रहे  
ज्ञान का तनाव यह।”<sup>(1)</sup>

बाह्य यथार्थ के आभ्यन्तरीकृत होने का आत्मसंघर्ष, इसका आभास आगे प्रबल होता है। बाहरी यथार्थ को लेकर सवाल उठते रहते हैं कि 'किन्तु वह फटे हुए वस्त्र क्यों पहने हैं?/उसका स्वर्ण-वर्ण मुख मैला क्यों?/वक्ष पर इतना बड़ा घाव कैसे हो गया?/उसने कारावास दुःख झेला क्यों?/उसकी इतनी भयानक स्थिति क्यों है?’<sup>(2)</sup> इन तमाम सवालों के साथ काव्यनायक का भय भी उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है। अपने मन के ये सवाल उसे खतरनाक लगता है। फिर दरवाज़े की साँकल बजने की आवाज़ आती है और मन शंकाग्रस्त होता है। आखिर पहचान पाता है कि वही रक्तालोक स्थान पुरुष है। दरवाज़ा खोलकर उससे लिपटना चाहता है, उसे अपनाना चाहता है। मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी की वर्गगत कमज़ोरी एन मौके पर उजागर होती है-

“परन्तु भयानक खड्डे के अन्धेरे में आहत / और क्षत विक्षत  
में पड़ा हुआ हूँ; / शक्ति ही नहीं है कि उठ सकूँ ज़रा भी / यह  
भी तो सही है कि / कमज़ोरियों से ही मोह है मुझको / इसीलिए  
टालता हूँ उस मेरे प्रिय को / कतराता रहता / डरता हूँ उससे।”<sup>(1)</sup>

1. सं. नेमिचन्द्रजैन - मुक्तिबोध रचनावली-2 - पृ. 324

2. वहाँ - पृ. 322

3. वहाँ - पृ. 324

उस रहस्यमय व्यक्ति से लिपटने की आकांक्षा के बावजूद वह संभव नहीं हो पा रहा है। निरन्तर आत्मसंघर्ष से गुज़रते हुए आखिर निश्चय कर लेता है और दरवाज़ा खोलता है लेकिन वह गायब। जनसाधारण से तादाकार पाने का संघर्ष ही अभिव्यक्ति पायी है। वह अपनी प्रतिबद्धता के प्रति सजग है लेकिन उसे व्यवहारिक बनाने में असमर्थ लगता है। एक ओर वर्गसंस्कार, दूसरी ओर मौजूदा व्यवस्था, इनके तहत बहुसंख्यक का पक्षधर बनना आसान नहीं है। रक्तालोक स्नात पुरुष सर्वहारा ही है जिससे वह लिपटना चाहता है। नन्दकिशोर नवल के शब्दों में “वस्तुस्थिति यह है कि रक्तालोकस्नात पुरुष न कोई रहस्यमय सत्ता है न वह काव्यनायक की अस्मिता है। कविता में इस बात के स्पष्ट संकेत हैं कि वह मज़दूर है और मज़दूरों की संगठित शक्ति तथा सर्वहारा चेतना का प्रतीक है। फासिस्ट हुकूमत में उसे गोलियों से ज़ख्मी ही नहीं किया है, बल्कि जेल में भी डाल दिया गया है। जिस गुहा में वह बन्द है, वह वस्तुतः जेल है। लेकिन चूँकि फासिस्ट हुकूमत के लिए भी मज़दूर वर्ग को खत्म करना असंभव है, वह जेल के बाहर भी दिखलाई पड़ता है।”<sup>(1)</sup>

रक्तालोक स्नात पुरुष काव्यवाचक को ‘मनु’ के रूप में दिखायी देता है। सर्वहारा क्यों मनु के रूप में दिखे इसके पीछे काव्यवाचक का वर्गसंस्कार ही कार्यरत है। चंचल चौहान के शब्दों में ‘मनु’ सफेदपोश पेंटी बुर्जुआ का प्रतीक है, वाचक की अपनी दृष्टि आरोपित होकर ‘वह’ को अपने वर्ग (मध्यवर्ग) के आदमी के रूप में पहचान पाती है। इसलिए, वह

---

1. नन्द किशोर नवल - अंधेरे में एक विश्लेषण, सं. 1998 - पृ. 34, 35

सलिल के तम-श्याम शीशे में कोई खेत आकृति के रूप में पहचाना जाता है। लेकिन यह पहचान गलत है इसलिए वह मुसकाता है। पहचान बताता है। किन्तु मैं हत्प्रभ। नहीं वह समझ में 'आता'। समझ में न आ पाने की वह मजबूरी अन्धेरे के कारण है। ...कविता के प्रारंभ के 'अन्धेरे से लाल-लाल मशाल' के प्रकाश बिम्ब तक की यात्रा अर्थहीन नहीं है। संवेदनात्मक ज्ञान का स्फुरण और उसका विकास इन बिम्बों से प्रतीकित हुआ है। मध्यवर्गीय वाचक का दिमागी गुहांधकार संवेदनात्मक ज्ञान की 'लाल लाल मशाल' से ही दूर हो सकता है। संवेदना और अनुभूतिजन्य वैज्ञानिक दृष्टि से उसे अपने आसपास का अपना शोषित वर्ग दिखायी दे सकता है। 'रक्तालोकस्नान पुरुष' उसी शोषित सर्वहारा वर्ग का प्रतीक है।"<sup>(1)</sup>

मुक्तिबोध की सबसे लम्बी कविता है 'अन्धेरे में।' मुक्तिबोध लम्बी कविताओं को प्रश्रय देते हैं तो वह अकारण नहीं है। परमानन्द श्रीवास्तव ने लक्ष्य किया है कि "मुक्तिबोध की लम्बी कविताएँ अकारण लम्बी नहीं हैं उनके विस्तार के पीछे इतिहास और संस्कृति, मनस्तत्व और दर्शन और सबसे अधिक मनुष्य के संघर्ष की व्याकुल पहचान का लम्बा सिलसिला है।"<sup>(2)</sup> पूरी कविता फैंटेसी के सहारे बुनायी गयी है।

### संघर्षरत मानवपक्ष में कविता - शमशेर

'कवियों के कवि' या 'सौन्दर्य के कवि' शमशेर नये कवियों में बिल्कुल अलग अन्दाज़ रखने वाले हैं। उनमें एक साथ छायावाद, प्रगतिवाद,

1. चंचल चौहान - मुक्तिबोध के प्रतीक और बिम्ब, प्र.सं. 1997 - पृ. 116, 17

2. नन्दकिशोर नवल - मुक्तिबोध ज्ञान और संवेदना, प्र.सं. 1993 - पृ. 375

प्रयोगवाद का प्रभाव दिखायी देता है। चित्रात्मकता और संगीतात्मकता ने भी उनकी कविता पर अपनी छाप छोड़ी है। मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभाव उनपर गहरा है। फिर भी उनकी रचनार्थमिता सामाजिक सन्दर्भों तक सीमित नहीं है बल्कि आत्मपरक कविताएँ भी उनकी रचना का आयाम हैं। मुक्तिबोध के शब्दों में “एक ओर व्यक्तिनिष्ठता है तो दूसरी ओर सामाजिक दायित्व की भावना। एक ओर पंत, बच्चन, नरेन्द्रशर्मा और अज्ञेय को पसन्द करते हैं तो दूसरी ओर निराला और मुक्तिबोध को। .....दोनों विरोधी प्रवृत्तियाँ शमसेर के काव्य में एक साथ दिखायी पड़ती हैं।”<sup>(1)</sup>

उनकी प्रगतिशील रचनाएँ मौजूदा व्यवस्था के सामाजिक अन्तर्विरोधों के प्रति सजग हैं। ‘बात बोलेगी’ या ‘य’ शाम है’ सरीखी कविताएँ उल्लेखनीय हैं। ‘बात बोलेगी’ कविता कम शब्दों में समय की सच्चाई की प्रबल अभिव्यक्ति बन पायी है।

“बात बोलेगी / हम नहीं। / भेद खोलेगी / बात ही। / सत्य का मुख / झूठ की आँखें! / क्या देखें! / सत्य का रूख / समय का रूख है, / सत्य ही सुख।”<sup>(2)</sup>

कविता की क्षमता पर उन्हें पूरा भरोसा है। उन्हें विश्वास है कि समय के भेद को खोलने में कविता सक्षम साबित होगी। वह समय के रूख के प्रति सचेत होकर सत्य का रूख ही अपना सकती है। जनता की पक्षधर कविता का यही कर्म है। कविता कर्म को निभाहते हुए आगे समय का रूख खुल गया है। सामाजिक यथार्थ पेश हुआ है कि -

1. सं. नेमीचन्द्र जैन - मुक्तिबोध रचनावली-5, प्र.सं. 1980 - पृ. 383

2. शमसेर - कुछ कविताएँ व कुछ और कविताएँ, प्र.सं. 1984 - पृ. 83



“दैन्य दानव : काल / भीषण; क्रूर / स्थिति ; कंगाल / बुद्धि;  
घर मजूर”<sup>(1)</sup>

एक ओर सर्वहारा की हालत बदतर है, दूसरी ओर उनकी बुद्धि भी कंगाल है। यानी पूँजीवादी व्यवस्था में उनका निरन्तर शोषण हो रहा है फिर भी सर्वहारा की चेतना सजग नहीं हो रही है। अवाम के पक्षधर रचनाकार उनकी कमज़ोरियों के खिलाफ भी आलोचनात्मक रुख अपनाते हैं। जनता की प्रगतिकामी चेतना की माँग कविता करती है। समय का अन्तर्विरोध भी कविता में अभिव्यक्ति पाया है। एक और अवाम की निरन्तर बदहालती हो रही है दूसरी ओर ‘हवा में उड़ती पाताकाएँ अनेक’/ यानी सत्ता का हस्तान्तरण मात्र होता है, व्यवस्था में बुनियादी परिवर्तन नहीं आता। कविता यों अन्तर्विरोधों के साथ खत्म नहीं होती, बल्कि जनता की ताकत को निर्णायक मानती है। सर्वहारा की एकता पर बल देती है।

“सत्य का/क्या रंग?... / पूछो / एक संग। / \* \* \* \* /  
एक जनता का अमर वर / एकता का स्वर। / अन्यथा स्वातन्त्र्य-  
इति।”<sup>(2)</sup>

‘य शाम है’ कविता भी समाज के अमानवीय पक्ष को सामने लाती है। यह ऐतिहासिक सच्चाई के साथ पेश होती है। मज़दूरों की रोटी की माँग और लहू भरा बाज़ार दोनों को एक साथ रखकर समाज के अन्तर्विरोध की अभिव्यक्ति हुई है-

1. शमशेर - कुछ कविताएँ व कुछ और कविताएँ - पृ. 83

2. वहाँ - पृ. 84

“गरीब के हृदय / टँगे हुए / कि रोटियाँ लिये हुए निशान /  
लाल-लाल जा रहे / कि चल रहा / लहू भरे ग्वालियर के बाज़ार  
में जुलूस / जल रहा / धुआँ-धुआँ / ग्वालियर के मजूर का  
हृदय।”<sup>(1)</sup>

बाज़ार के प्रस्तुत हृदय से झाँकनेवाली सच्चाई पूँजीवादी साजिश है। रोटी के बदले जन शक्ति को मिटाने के व्यवस्था तन्त्र के खिलाफ प्रतिपक्ष में खड़ी है कविता। उनकी यही पक्षधरता समकालीन कविता की प्रेरणा बन गयी है।

### राजनैतिक जिरह की कविता - रघुवीर सहाय

रघुवीर सहाय अपनी काव्ययात्रा के आरंभिक दौर से ही नयी कविता के व्यक्ति केन्द्री दृष्टि के प्रति नकारात्मक रूख अपनानेवाले हैं। नन्दकिशोर नवल के शब्दों में “अस्तित्ववाद से प्रभावित नयी कविता में दर्द, व्यथा और दुःख का जिस तरह ज़ोर था रघुवीरसहाय ने ‘सीढियों पर धूप में’ की अनेक कविताओं में अस्तित्ववादी दुःख से दुःखी कवियों का उपहास किया है, उनके दुःख से असहमति प्रकट की है और उन्हें असली दुःख से परिचित कराया है।”<sup>(2)</sup> यह भी उल्लेखनीय है कि “रघुवीर सहाय ने नई कविता के अधिकांश मूल्यों की प्रतिगामिता से सिर्फ असहमत ही नहीं थे बल्कि अपनी कविता में लघुमानव, क्षण, प्रयोग, आदि जिन मूल्यों को स्थापित करने की कोशिश की, रघुवीरसहाय ने बराबर उसे इतिहास की सापेक्षता में देखने का प्रयास किया है।”<sup>(3)</sup>

1. शमशेर - कुछ कविताएँ व कुछ और कविताएँ - पृ. 83

2. नन्दकिशोर नवल - समकालीन काव्ययात्रा - पृ. 82

3. सुरेन्द्र वर्मा - रघुवीर सहाय का कवि कर्म, भूमिका से

‘सीढियों पर धूप’ में से प्रारंभ होने वाली सामाजिक चिन्ता ‘आत्महत्या के विरुद्ध’ में आकर प्रबल होती है। ‘आत्महत्या के विरुद्ध’ की अधिकांश कविताएँ राजनैतिक मूल्यहीनता पर केन्द्रित हैं। पूँजीवाद का अब भी हमारे देश में बने रहना राजनीति के जनविरोधी चरित्र का परिचायक है। आज़ाद भारत की लोकतान्त्रिक व्यवस्था के खोखलेपन के प्रति उनकी प्रतिक्रिया ही ‘आत्महत्या के विरुद्ध’ में दर्ज हुई है। भूमिका में उन्होंने लिखा है कि “लोकतन्त्र मोटे बहुत मोटे तौर पर लोकतन्त्र ने हमें इन्सान की शानदार ज़िन्दगी और कुत्ते की मौत के बीच चाँप लिया है।”<sup>(1)</sup> ‘मेरा प्रतिनिधि’, ‘एक अधेड भारतीय आत्मा’, ‘फिल्म के बाद चीख’ जैसी तमाम कविताओं में सत्ताधारीवर्ग की अवसरवादिता को उजागर करते हुए भारतीय जनता के महज मतदाता बनकर रहने की त्रासदी की ओर संकेत हुआ है।

सबसे उल्लेखनीय ‘आत्महत्या के विरुद्ध’ शीर्षक की लम्बी कविता है। नन्दकिशोर नवल के शब्दों में “आत्महत्या के विरुद्ध’ इस संग्रह की सबसे अन्तिम और सबसे दीर्घ कविता है, जिसे स्वातन्त्रोत्तर भारत का चित्रपट कहना चाहिए... सारे चित्र स्वातन्त्रोत्तर सामाजिक और राजनीतिक जीवन के पाखंड, स्वार्थपरता, अन्तर्विरोध, हताशा और विद्रूप को उजागर करते हैं।”<sup>(2)</sup> अखबार के सम्पादकीय के साथ कविता की शुरुआत हुई है। सम्पादकीय में रोज़ खबर आती है कि समय आ गया है। समाज की चुनौतियों के खिलाफ आवाज़ उठाने का समय आ गया है। दस

---

1. रघुवीर सहाय - आत्महत्या के विरुद्ध, 1968 भूमिका से

2. नन्दकिशोर नवल - समकालीन काव्ययात्रा, प्र.सं. 1992 - पृ. 102

बरस से यह जारी है जो अब भी महज शब्द में सीमित है। 'समय आ गया है' खबर के पीछे से झाँकनेवाली व्यवस्था के मनुष्यविरोधी रवैये की सूचना आगे विकास पाती है कि -

“एक गरीबी, ऊबी पीली, रोशनी, बीवी / रोशनी, धुन्ध, जाला,  
यमन, हरमुनियम अदृश्य / डब्बाबन्द शोर / गाती गला भींच  
आकाशवाणी / अन्त में टडंग।”<sup>(1)</sup>

जनता की बदहालती के बीचों बीच डब्बाबन्द शोर भी बल पकड रही है। जनता की माँगों को वायदों और घोषणाओं के प्रसारण से बन्द करने की कोशिश भी जारी है। एक ओर अवाम की ज़िन्दगी दूभर होती जा रही है और दूसरी ओर अकादमी के महापरिषद की अनन्त बैठक हो रही है। चर्चा के लिए कोई खास विषय उनके पास नहीं है। ऐसा कहना ही सार्थक होगा कि जनता उनकी चर्चाओं का विषय नहीं बनती। एक ओर आम जनता अपनी माँगों को लेकर बेताब हो रही है तो दूसरी ओर बैठक से ऊबकर सब तेलौंज मेज़ की ओर जाते हैं। समय का यही अन्तर्विरोध है।

जनता की आँखों में धूल झोंककर और उसीकी छाती को सीढ़ि बनाकर शासक वर्ग सत्ता पर बैठते हैं और जनतन्त्र के नाटक का मुख्यपात्र जनता की हालत बदत्तर। सर्वहारा का प्रतीक रामलाल अपना 'कुचला पाँव घसीटकर चल रहा है। अब वह अर्थहीन हो गया है। यानी जनतान्त्रिक व्यवस्था में मनुष्य के दर्जे से भी नीचे रहने का दर्द रामलाल की ज़िन्दगी की असलियत है। हमारी संस्कृति की मानवतावादी नैरन्तर्य से बिछुडकर

---

1. प्रतिनिधि कविताएँ - रघुवोर सहाय - पृ. 57

साम्राज्यवादियों के जनविरोधी फासिस्ट रवैये को अपनाने वाली राजनीति की पहचान बखूबी द्रष्टव्य है। रामलाल का कथन कि -

“कुछ पता चला जान का शोर डर कोई लगा / नहीं बोला मेरा  
भाई मुझे पाँव-तले / रौंदकर अंग्रेज़ी।”<sup>(1)</sup>

अंग्रेज़ों ने उसके भाई को पाँवतले रौंदा था। अब वह देशी व्यवस्था तन्त्र का शिकार है। सर्वहारा को दबाने का सिलसिला, रौंदने की प्रक्रिया अब भी जारी है। जनतान्त्रिक शासन में जनता की हाल यही है कि -

“.....दूर / राजधानी से दूर कोई कस्बा दोपहर बाद छटपटाता है  
/ एक फटा कोट एक हिलती चौकी एक लालटेन / दोनों बाप-  
मिस्तरी और बीस बरस का नरेन / दोनों पहले से जानते हैं पेंच  
की मरी हुई चूडियाँ / नेहरू युग के औजारों को मुसद्दीलाल की  
सबसे बड़ी देन।”<sup>(2)</sup>

विज्ञान के आयाम में बनायी गयी योजनाओं के कारण जनतन्त्र का निरन्तर खोखला होते जाना हमारी त्रासदी है। बाप और बेटा आज्ञादी के पूर्व और बाद की अभिशप्त पीढ़ि है जो नेहरू युग के घिसे हुए पेंच को कसने की कोशिश में हैं। जबकि दोनो वाकिफ हैं कि ‘पेंच की मरी हुई चूडियाँ’ हैं। नेहरूयुग की अवधारणाएँ अन्तर्विरोध ली हुई थी जो अब जाकर और भी खोखली सिद्ध हो रही हैं। खोखला करने में मुसद्दीलाल का हाथ भी है। शासकवर्ग के साथ नौकरशाही वर्ग भी शामिल हैं। पेंच को

---

1. प्रतिनिधि कविताएँ - रघुवीर सहाय - पृ. 59

2. वहीं - पृ. 60

कसने की व्यर्थ कोशिश में जो निराशा का स्वर है, आज़ादी की यही विडम्बना है।

अवाम की असुरक्षित स्थिति का एहसास तीव्रतर है -

“अस्पताल में मरीज़ छोडकर आ नहीं सकता तीमारदार / दूसरे दिन कौन बतायेगा वह कहाँ गया / निष्कासित होते हुए मैंने उसे देखा था।”<sup>(1)</sup>

इस असुरक्षित माहौल को और भी व्यापक सन्दर्भ में पेश किया गया है-

“एक हताश लडके की लाश बार-बार / एक बेबसी / थोडी सी मिटती है / फिर करने लगती है भाँय-भाँय / समय जो गया है उसके सत्राटे में राष्ट्रपति / प्रकटे देते हुए सीख समाचार में छपी / दूँधमुँही बच्ची खाती हुई भीख / खिसियाते कुलपति / मुसद्दीलाल / घिसियाते उपकुलपति”<sup>(2)</sup>

मौजूदा व्यवस्था में किसी की भी स्थिति सुरक्षित नहीं है। बच्चे निरन्तर गौण होते जा रहे हैं। विज्ञापन में दिखानेवाले बच्चों और औसत आदमी के बच्चे को एक साथ रखकर जो विडम्बना प्रस्तुत की गयी, वही भारत का नक्शा है। भीख माँगती बच्ची का चित्र भी वर्तमान व्यवस्था के मनुष्य विरोधी रुख का ही प्रमाण है। जनतान्त्रिक व्यवस्था में जनता की हिस्सेदारी नहीं के बराबर है। भारत का औसत आदमी निरन्तर घुटता जा

---

1. प्रतिनिधि कविताएँ - रघुवीर सहाय - पृ. 60

2. वहीं - पृ. 62, 63

रहा है, हर दिन आदमी के दर्जे से नीचे रहने का दर्द उसका यथार्थ है। कविता के केन्द्र में मुसद्दीलाल है। जिसके चारों ओर की ज़िन्दगी में प्राप्त घुटन और यातना के कई आयाम अपने आवरण तोड़कर बाहर आते हैं। मरते मनुष्य की फेहरिस्त में हर दिन नया नाम जुड़ता रहता है। लाशों की क्या होगी, वह भी अंतरंग परिषद तय करेगा। 'अँग्रेज़ी की अवध्य गाय' यानी नौकरशाही मध्यवर्ग लगातार 'घंटा घनघनाते हुए' जयजयकार के साथ सरकार से करार जारी रखता है। व्यवस्था तन्त्र में नौकरशाही भी शामिल है। आदमी के दर्जे से भी नीचे रहने के दर्द के बावजूद भी घुटते रहना पड़ता है। क्योंकि 'रोज़रोज़ एक और दर्द एक क्रोध एक बोध कैद है।' विरोध की संभावना हर कीमत पर कैद की जा रही है। खास मकसद भी यही कि 'कल पैदा करना होगा भूखी पीढ़ि को।' व्यंग्य, विडम्बना और त्रासदी मिलकर पूरे भारत का मानचित्र पेश हो रहा है।

सामान्य जनता से तादाकार पाने का मध्यवर्गीय आत्मसंघर्ष भी उनके यहाँ प्रबल है। कवि को दोतरफा संघर्ष झेलना पड़ता है। एक ओर सर्वहारा से जुड़ने का आत्मसंघर्ष, वर्गच्युत होने का आत्मसंघर्ष और दूसरी ओर सर्वहारा का इन पर अविश्वास। अपने वर्ग चरित्र से मुक्त होकर आम आदमी से संवाद बनाए रखने का लगातार प्रयास कविता का आयाम है। कविता में सन्दर्भ है -

“कल मैं ने देखा लाख चेहरों में एक वह चेहरा / कुढ़ता हुआ  
और उलझा हुआ वह उदास कितना बोदा / वही था नाटक का  
मुख्यपात्र / पर उसकी ठस पीठ पर हाथ न रख सका। / वह  
बहुत चिकनी थी।”<sup>(1)</sup>

---

1. प्रतिनिधि कविताएँ - रघुवीर सहाय - पृ. 64

यहाँ उल्लेखनीय है कि 'जनता से जुड़कर उससे रचनात्मक रिश्ता कायम रखने की पहल में रघुवीरसहाय जिन मुश्किलों और अवरोधों से जूझते हैं, वे स्थितियाँ कुछ बड़े महत्व के सवालों की ओर संकेत करती हैं जिनका हल किये बिना सार्थक रचना संभव नहीं। दलित जन से जुड़ने में पहली बाधा किसी भी कवि का अपना वर्ग चरित्र है, ...अतः एक ईमानदार रचनाकार के लिए वर्ग मुक्त होना ज़रूरी है।"<sup>(1)</sup> रघुवीर सहाय तत्काल उसमें सफल नहीं हो पाते। फिर भी वे निराश नहीं हैं। उन्हें विश्वास है कि उनका मौका आयेगा और उनके बोलने से कुछ होगा अवश्य-

*“कुछ होगा कुछ होगा अगर मैं बोलूँगा / न टूटे न टूटे तिलिस्म  
सत्ता का मेरे अन्दर / एक कायर टूटेगा टूट / मेरे मन टूट एक  
बार सही तरह।”<sup>(2)</sup>*

रघुवीर सहाय ने अपने पूरे रचना परिदृश्य में मौजूदा व्यवस्था में निहित मनुष्य विरोधी चरित्र को बेनकाब करने की कोशिश की है। वर्तमान अरक्षित स्थिति में जनसाधारण की ज़िन्दगी किस हद तक भीषण होती जा रही है यही उनकी कविता का यथार्थ है।

### सांस्कृतिक स्वत्व की तलाश - सर्वेश्वर दयाल सक्सेना

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की नयी कविता के दौर के 'काठ की घंटियाँ', 'बाँस का पुल' और 'सूनी नाव' में पश्चिमी आधुनिकतावाद का दबाव स्पष्ट द्रष्टव्य है। अस्तित्ववादी अवधारणाओं के तहत मध्यवर्ग की

1. सुरेश शर्मा - रघुवीर सहाय का कवि कर्म, 1992 - पृ. 77

2. प्रतिनिधि कविताएँ - रघुवीर सहाय - पृ. 59



मानसिक परेशानियाँ कविता का केन्द्र बनती हैं। नन्दकिशोर नवल के शब्दों में “सर्वेश्वर में व्यक्तित्व का प्रबल आग्रह है.... व्यक्तित्व-प्राप्ति की यह प्यास बुरी नहीं है, बुरी है उसे अस्तित्ववादी व्यक्तिवाद से मिटाने की चाह। प्रगतिशील कवियों में मुक्तिबोध में भी व्यक्तित्व का बहुत आग्रह था, लेकिन उन्होंने उसे समाज में संघर्ष करते हुए प्राप्त करने की कोशिश की, जबकि अस्तित्ववाद से प्रभावित कवियों ने उसे शुद्ध आत्म साक्षात्कार का विषय समझा।”<sup>(1)</sup> इस व्यक्तिवादी आग्रह से उबरने की कोशिश का परिणाम है, ‘गर्म गवाँ’। सामाजिक परिप्रेक्ष्य से अपनी रचनार्थमिता को जोड़ने का प्रयास इसमें द्रष्टव्य है। कवि विजयकुमार के शब्दों में ‘सर्वेश्वर के कवि व्यक्तित्व का विकास छोटे दशक के अन्तिम वर्षों में हो रहा था और अब तक संभवतः कवि के अपने परिवेश के साथ बननेवाले सम्बन्धों में एक ऐसा तनाव आना आरंभ हो गया था कि किसी भी समर्थ कवि के लिए सिर्फ अपने भीतरी जगत की महिमा का बखान करते हुए कवि धर्म निभाते चले जाना कठिन साबित होने लगा था।”<sup>(2)</sup>

आम आदमी के संघर्ष से जुड़ने की आकांक्षा सीधे राजनीति से टकराती है। ‘स्थिति यही है’ कविता समाज की सही स्थिति को शब्दबद्ध करती है। जो भी सत्ता में आयेगा जनता का दोहन करते हुए अपना पेट भरेगा और ‘कुल्हा मटकाते’ हुए कहेगा ‘खाय लिया खिचड़ी सलाम भैया चूल्हा।’ एक बहुत बड़ी आबादी की बुनियादी ज़रूरतों को अनदेखा करते हुए अपने पेट भरानेवालों की नज़र में अवाम का दर्जा चूहे का है।

1. नन्दकिशोर नवल - समकालीन काव्ययात्रा, 1994 - पृ. 63

2. विजयकुमार - साठोत्तरी हिन्दी कविता : परिवर्तित दिशाएँ - पृ. 204, 205

समाजवाद की माँग के बावजूद भी पूँजीवादी व्यवस्था कायम रही। अपने असली चेहरे को छिपाते हुए वायदों की आड में सत्ता हासिल करने वाले मौकापरस्त सप्ताधारी वर्ग के खिलाफ कवि की प्रतिक्रिया यो दर्ज हुई है-

“जो भी आयेगा / समाजवाद और समानता के नाम की / ईंटें  
पकायेगा / मनमाने बेडौल साँचों में / ढालेगा कच्ची मिट्टी / पर  
बुझा पड़ेगा आँवाँ।”<sup>(1)</sup>

इन तमाम विसंगतियों के बीच कोई रास्ता निकालना भी नामुमकिन हो गया है। क्योंकि समाज तहखाने में तब्दील हो गया है जहाँ 'चारों लगी हुई दीमकों की कतार है, सीलन है, चूहे हैं, जाले हैं। व्यवस्था जन्य बौनेपन पर आज्रिज़ आकर उसे बदलने की आकांक्षा रखते हुए भी उसकी असफलता के प्रति आगाह है। स्थिति में बदलाव लाने की असमर्थता को लेकर निराशा की अभिव्यक्ति हुई है कि-

“मैं जानता हूँ मेरे दोस्त / हमारा तुम्हारा और सब का गुस्सा /  
जंगली सुअर की तरह तेज़ी से / सीधे दौड़ता हुआ निकल  
जायेगा / और उस शिकार का कुछ नहीं बिगाड पायेगा / जो  
पेंतरा बदल लेता है।”<sup>(2)</sup>

व्यवस्था तन्त्र इतना मज़बूत है कि तमाम विरोधी संकल्पों को दबाने की कोशिश करता है। यह ऐतिहासिक सच्चाई है, इसकी निरन्तरता हमारी वर्तमान सच्चाई है। हमारा भविष्य भी गुम्फित है। जन-रोष के उबरने पर सत्ता पेंतरा बदलती है, और जनता के खिलाफ हो जाती है।

---

1. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना - गर्म हवाएँ, 1969 - पृ. 20

2. वहीं - पृ. 21

इस संकलन की 'छीनने आये हैं वे' कविता सांस्कृतिक स्वत्व की माँग करती है। उपनिवेशवादी हमलों की ओर हमें सजग बनाती है। साम्राज्यवादियों ने अपने वर्चस्व को बनाये रखने के लिए निशाना साधा था भाषा पर। जातीय अस्मिता से जुड़ी हुई हमारी भाषा ही अपनी पहचान व अभिव्यक्ति है। इसी से सांस्कृतिक सम्प्रेषणीयता व संवाद बनाये रख पाते हैं। साम्राज्यवादियों ने भाषा पर हमले के ज़रिए सांस्कृतिक उपनिवेशन में सफलता हासिल की। बौद्धिक उपनिवेशन के तहत मध्यवर्ग और जनसाधारण का संवाद भी खत्म किया गया। इन तमाम आयामों के प्रति प्रस्तुत कविता की प्रतिक्रिया है -

*“छीनने आये हैं वे / हमसे हमारी भाषा / अब जब हम / हर तरह से टूट चुके हैं / अपना ही प्रतिबिम्ब / हमें दिखाई नहीं देता / अपनी चीख गैर की मालूम होती है।”<sup>(1)</sup>*

हमारी सांस्कृतिक पहचान तबाह होती जा रही है। 'चिडियों के चहकने के बदले गीदड़ों की तरह रौने तथा मुर्गों का भेडियों की तरह गुराने में, अपनी भाषा भूलने की त्रासद अहसास ही होता है। सांस्कृतिक आत्मपहचान खोकर भी हम ज़िन्दा रहे और 'रात-दिन भूखे प्यासे फटेहाल चलते जाते थे।' अर्थ के निरन्तर केन्द्रीकरण से हमारी जो बदहालती हो रही थी, इस यथार्थ की ओर संकेत हुआ है। इस खौफनाक माहौल में साँस लेने की अभिशप्तता लिए हुए जब प्रतिरोधी आवाज़ बुलन्द करना चाहते हैं तभी अन्दाज़ होता है कि हमसे हमारी भाषा भी छीनने आये हैं। सांस्कृतिक स्वत्व बोध के प्रति सजग कवि की प्रतिक्रिया दर्ज हुई है -

---

1. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना - गर्म हवाएँ, 1969 - पृ. 27

“एक गलत भाषा में / गलत बयान देने से / मर जाना बेहतर है /  
यही हमारी टेक है।”<sup>(1)</sup>

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के सामाजिक सरोकार की बेहतरीन मिसाल ‘गर्म हवाओं’ में प्राप्त है। अपनी रचना धर्मिता को उत्तरोत्तर विकसित करते हुए वे समकालीन कवि बन जाते हैं। ‘कुआनों नदी’, जंगल का दर्द’ सरीखे संकलन समकालीन कविता की जनोन्मुखी दृष्टि का परिचायक है।

### आस्था की कविता - केदारनाथ सिंह

नयी कविता के दौर में प्रगतिवादियों द्वारा प्रशस्त बनाए गये पथ से होकर ही केदारनाथ सिंह भी चलते हैं। फिर भी नयी कविता के दौर में अपनी सीमाओं को उन्होंने यो स्वीकार किया है कि “असल में हमारे भविष्य स्वप्न का जो परिकल्पित ढाँचा था, उसकी मूलप्रेरणाएँ लगभग वही थी, जहाँ नयी कविता के एक अच्छे खासे हिस्से की। आफ्रिकी या लेटिन अमरीकी देशों में सांस्कृतिक मोर्चे पर क्या हो रहा था, यह जानने का उपाय तो थे, पर उसके लिए अपेक्षित उत्सुकता हमारे भीतर नहीं थी। हमारे सांस्कृतिक जीवन पर जो औपनिवेशिक दबाव अब भी बना हुआ था, उसके चलते हमें इस एहसास तक पहुँचने में लम्बा समय लगा कि उन भूभागों में जो घटित हो रहा है, उससे हमारी सोच और संवेदना के तार कहीं न कहीं मिलते हैं।”<sup>(2)</sup> वे स्वीकारते हैं कि नयी कविता का अधिकांश पक्ष आधुनिकतावाद के दबाव में रहा। केदारनाथ सिंह के यहाँ इसका दबाव

1. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना - गर्म हवाएँ, सं. 1969 - पृ. 27

2. केदारनाथ सिंह - मेरे समय के शब्द, सं. 1993 - पृ. 13

नहीं के बराबर है। फिर भी व्यापक जनसन्दर्भों से वे पूरी तरह तादाकार नहीं हुए थे। यही नहीं उनका प्रारंभिक दौर बिम्बधर्मी कविता का रहा है। अतः समय के अन्तर्विरोधों को समेटने में भी उनकी कविता अक्षम रही है।

‘तीसरा सप्तक’ में उन्होंने लिखा है कि “समाज के प्रगतिशील तत्वों और मानव के उच्चतर मूल्यों की परख मेरी रचनाओं में आ सकी है या नहीं मैं नहीं जानता। पर उनके प्रति मेरे भीतर एक विश्वास एक लालसा, एक लपट ज़रूर है, जिसे मैं हर प्रतिकूल झोंके से बचाने की कोशिश करता हूँ, करता रहूँगा।”<sup>(1)</sup> अपनी इस आकांक्षा को लेकर वे हमेशा आस्थावादी रहे। परमानन्द श्रीवास्तव के अनुसार “आस्था को केदारनाथ सिंह उसके विशिष्ट भारतीय अर्थ में मूल्य सरीखी प्रतिष्ठा देते हैं और हताशा, कुंठा, परायापन, अलगाव, आत्महत्या, अजनबीपन जैसे मुहावरों में ही आधुनिक बोध या काव्यानुभूति की सीमा बनानेवाले काव्यदर्शन या विचार दर्शन के प्रति अपनी असहमति प्रकट करते हैं।”<sup>(2)</sup> यही आस्थावादी दृष्टिकोण केदारनाथ सिंह की रचनार्थमिता रहा। अपने कवि कर्म को आस्थावादी नज़रिए के तहत प्रगतिशीलता से जोड़ने की आकांक्षा प्रबल है।

अपनी मानवीय आकांक्षाओं के रहते व्यापक सामाजिक सरोकार स्थापित करने की चाह उनकी कविताओं में स्पष्ट द्रष्टव्य है। ‘अभी बिलकुल अभी’ की ‘नीला पत्थर’ कविता इस अर्थ में उल्लेखनीय है। नन्दकिशोर नवल के अनुसार “मुझे लगता है कि इस विलक्षण कविता में

---

1. सं. अज्ञेय - तीसरा सप्तक, प्र.सं. 1959 - पृ. 118

2. परमानन्द श्रीवास्तव - शब्द और मनुष्य, प्र.सं. 1999 - पृ. 145

आनेवाला नीला पत्थर जनता का ही प्रतीक है, जो कवि जब अकेला होता है, उसके पास लुढ़ककर चला आता है, उसका अकेलापन दूर करने के लिए।”<sup>(1)</sup> जनसामान्य से तादाकार पाने की कशमकश के तहत नयी कविता के प्रचलित मुहावरे को तोड़ने का प्रयास वे करते हैं। इसी सिलसिले में आम जनता को अपने निकट पाते हैं -

“यह टूटा नीला पत्थर / मेरे पास लुढ़ककर / रोज़ चला आता है / कहता है - / तुम बहुत अकेले थे / मैं इसीलिए आया हूँ।”<sup>(2)</sup>

अपनी कविता के दायरे को विस्तृत करने की भरपूर कोशिश उनके यहाँ है। प्रारंभिक उलझन के बाद उनकी आस्थावादी दृष्टि पूरी निष्ठा के साथ बहुसंख्यक अवाम को अपने में समेटती है। यद्यपि उनका जीवन यथार्थ व उनकी वर्तमान हालत को वे तत्काल अभिव्यक्ति दे नहीं पा रहे हैं फिर भी उत्तरोत्तर उसकी ओर सजग हुए हैं -

“अब नीला पत्थर / मेरे साथ साथ रहता है / सोता हूँ तो सिरहाने है। / उठता हूँ / तो कब से जग रहा है / गाने की कोशिश करता हूँ / तो हर शिरा-उपशिरा में / छटपटा रहा है नीला पत्थर।”<sup>(3)</sup>

यानी जनता हमेशा उनके आत्मविस्तार की प्रेरणा बनती है। इस आत्मविस्तार के बढ़ने के क्रम में वे जनतान्त्रिक व्यवस्था के खोखलेपन को बेनकाब करते हैं। ‘चुनाव की पूर्वसन्ध्या’ कविता में राजनैतिक यथार्थ को अभिव्यक्ति मिली है। सत्ता व्यवस्था को अपने अनुकूल बनाती है और उसे

- 
1. नन्दकिशोर नवल - समकालीन काव्ययात्रा - पृ. 1
  2. केदारनाथ सिंह - अभी बिल्कुल अभी - पृ. 36
  3. वहीं - पृ. 37

अपरिवर्तनीय बनाकर रखती है। ऐसे में जनता का सिर्फ मतदाता में सीमित रहने की मजबूरी को प्रस्तुत कविता उजागर करती है। घोषणाओं और वायदों की लम्फाजी की आड में जनता में आकांक्षाएँ पैदा करके हर चुनाव में जनता का इस्तेमाल किया जाता है -

“भेडियों से फिर कहा गया है / अपने जबड़ों को खुला रखे / सारा देश / उसमें झाँककर देखना चाहता है / अपना चेहरा / अपनी आँखें / अपना ललाट / दूसरा उपाय नहीं है।”<sup>(1)</sup>

हर चुनाव में, जो महज खोखला सिद्ध होता है, उम्मीदवार की भूमिका निभानी पडती है। ऐसा करते हुए असल में वह अपना गर्दन बेडियों की शक्तिवाली व्यवस्था के मुँह में डालती है। यही विडम्बना कविता की मुख्य चिन्ता है।

अपनी आस्थावादी दृष्टि को लेकर उन्होंने निरन्तर अपने रचना परिदृश्य को व्यापक बनाया है। समाज की चुनौतियों को उसके पूरे अन्तर्विरोधों के साथ वस्तुसन्दर्भ बनाने वाले केदारनाथ सिंह अब समकालीन कविता के भी सशक्त हस्ताक्षर हैं। ‘टालस्टॉय और साइकल’ तक की रचनाएँ अवश्य उनकी पक्षधरता के प्रमाण हैं।

### विकल्प का इन्तज़ार - विजयदेवनारायण साही

विजयदेवनारायण साही में भी सामाजिक यथार्थ से अपनी रचनार्थिता को जोड़ने का प्रयास है। यह कोशिश उनके यहाँ तीखी नहीं है। उनके यहाँ

---

1. केदारनाथ सिंह - अभी बिल्कुल अभी - पृ. 87

यह एक 'आन्तरिक एकालाप' के समान है। उनकी कविताएँ भी 'आन्तरिक एकालाप' की तरह हैं। उनके शब्दों में "औरों की तरह मैं ने भी भीतर चलते हुए उस आन्तरिक एकालाप को पकड़ने की कोशिश की है जो आज के इस अनैतिक और विश्रृंखल युग में बहुत बड़ी जिम्मेदारी की तरह महसूस होता है।"<sup>(1)</sup> उनकी कविताओं में सामाजिक यथार्थ वस्तुस्थितियों के साथ पेश नहीं होते। लम्बी कविता 'अलविदा' में भी परिवेश की भयावहता प्रस्तुति पाई है, लेकिन यथार्थ का मूर्त रूप वहाँ नहीं है। लम्बी कविता होने पर भी सामाजिक समस्याओं के बहुआयामी सन्दर्भ भी नहीं है फिर भी माहौल के खौफ की अभिव्यक्ति कविता का ध्येय है। जैसे कि -

*"दीवारें टटोलती हताश भीड़ें / सुरंगों के पार जलती हुई स्वर्ण लंकाएँ / गटर में छुरे फेंकते सिपाह चेहरे / समुन्दर की तरह काँपती लडकियाँ / दुर्घटनाएँ लिए जाती रेलगाडियाँ....."*<sup>(2)</sup>

दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही असुरक्षा का एहसास यहाँ अभिव्यक्त हुआ है। इसका आधार सामाजिक सन्दर्भ ही है। मुक्तिबोध की तरह उन्होंने इसे फैंटेसीकृत किया है। मुसाफिरों की यात्रा और उस यात्रा के दौरान सामने आनेवाले खतरे के साथ कविता विकसित हुई है। एक 'बदनसीब इमारत' में सारा खतरा केन्द्रित दिखायी देता है। जिसके अन्दर जानेवालों के वापस आने की कोई उम्मीद नहीं है। रात के अन्धेरे में घटित होनेवाली दुर्घटनाओं की ओर कई बार इशारा हुआ है। मुसाफिरों को इस बदनसीब इमारत से गुज़रने पर यातना भरी मृत्यु ही मिली है -

---

1. विजयदेवनारायण सही - मछली घर, 1966 भूमिका से

2. वहाँ - पृ. 116



“यों यह मृत्यु यातना भरी है / यह भी मैं अन्दाज़ से कहता हूँ /  
 क्योंकि मैं ने आज तक उस क्षण को देखा नहीं / जब हसीन चेहरे /  
 और भटके हुए मुसाफिर का साक्षात्कार होता है / हो सकता है / कि  
 वास्तविक / अनुभूति कुछ और हो / क्योंकि ऐसी रातों में / देर  
 तक मैं ने / अट्टहास और संगीत सुने हैं / करीब तीसरे पहर  
 जाकर / भयानक चीख सुनाई पडती है।”<sup>(1)</sup>

हमारे समय में आदमी की स्थिति असुरक्षित है। रात के अन्धेरे की आड में उनकी हत्याएँ हो रही हैं। हमारा जनतन्त्र निरन्तर मनुष्यविरोधी होता जा रहा है। मानवीय होने के मुखौटे के बावजूद भी वह अपने अन्दर की बर्बरता को छिपा नहीं पा रहा है। फिर भी कोशिश जारी रहती है अपने अमानवीय चेहरे को छिपाने की। रात के अन्धेरे में दुर्घटनाएँ घटती हैं। लेकिन सुबह होते ही पूरा माहौल साधारण सा हो जाता है। जैसे कि ‘दुर्घटना को पचा लेने के बाद जंगल खूबसूरत हो जाता है।’ अपने आतंक को सौन्दर्य से ढकने का प्रयास होता है। स्थितियाँ इतनी उलझी हुई हैं कि उसे जल्दी तोडना नामुमकिन है। खतरे एक के बाद एक होकर सामने आते हैं। अमानवीयता अनेक स्थितियों में बँटी हुई है। कविता में इसका आभास है कि बदनसीब इमारत की हसीने के चंगुल से बचने पर भी खतरा समाप्त नहीं होता क्योंकि सामने अन्धेरा ही अन्धेरा है। यह अटूट अन्धेरा है ‘जो माँद में मरते हुए जानवर की तरह साँस लेता है।’ कविता में प्रारंभ से लेकर यह चेतावनी बरकरार रहती है कि खतरें का सामना स्वयं करना होगा। यथार्थ को स्वयं पहचानना होगा। यथार्थ की पहचान की माँग ही कविता

---

1. विजयदेवनारायण सही - मछली घर, 1966 - पृ. 118

करती है। वस्तुस्थिति को बदल न पाने की मज़बूरी ज़रूर स्वीकार हुई है फिर भी निराशा नहीं है। वर्तमान को नियति मानकर चलने के लिए भी तैयार नहीं है। विकल्प की संभावना के प्रति कविता सजग है। कविता उस विकल्प की इन्तज़ार में है। इसी में वह अपना अस्तित्व पाती है। यही साही की आस्थावादी दृष्टि है। इसीलिए वे कह रहे हैं 'इन्तज़ार और अस्तित्व दो चीज़ें नहीं है।' उनकी आकांक्षा यों अभिव्यक्ति पायी है -

*“मैं भी सिर्फ इन्तज़ार कर रहा हूँ / उस विकल्प का / जिसकी  
अफवाह / रात की हवा की तरह / समय के एक छोरसे दूसरे  
छोर तक / मँडराती हुई सुनाई पडती है।”<sup>(1)</sup>*

'मछलीघर' की निराशावादी कविताओं के बीच यह कविता ज़रूर आस्था को प्रश्रय दे रही है। परिवेश के दहशत को अपनी कुछ सीमाओं के साथ ही, इसमें अभिव्यक्ति मिली है। उनका यह यथार्थबोध आगे के दौर में और भी व्यापक सन्दर्भ से टकराता है। 'साखी' सरीखा संकलन 'समकालीनता' की सही पहचान की उपज है।

### रचना के बाज़ारीकरण के खिलाफ - भवानी प्रसाद मिश्र

भवानी प्रसाद मिश्र की रचना धर्मिता भी नयी कविता के दौर में मूल्यों की तलाश में है। "गीतफरोश' संकलन की उसी नाम की कविता नयी कविता की उपलब्धि है। बाज़ारीकरण के तहत कला, साहित्य, संस्कृति सबकी हैसियत माल में सीमित हो रही है। यह मालावाही बाज़ार का असर है। यहाँ सिर्फ विकाऊ माल को प्रधानता मिल रही है। बाज़ार के

---

1. विजयदेवनारायण सही - मछली घर, 1966 - पृ. 122

पीछे जिस अर्थतन्त्र का दबाव है वह हमारी चेतना पर भी हावी हो रही है कि चीज़ों को व्यावसायिक नज़रिये से देखा जा रहा है। सर्जक साहित्यकार पर भी यह हावी है। उनकी रचनाएँ अवसरवादी मूल्यों से बन रही है। इस मूल्यविघटन की ओर कविता इशारा करती है। पूरी कविता गीत का विज्ञापन दे रही है -

“जी माल देखिए, दाम बताऊँगा, / बेकाम नहीं है, काम बताऊँगा, /  
कुछ गीत लिखे है, मस्ती में मैं ने, / कुछ गीत लिखे हैं पस्ती में  
मैं ने, / यह गीत सख्त सर-दर्द भुलाएगा / यह गीत पिया को  
पास बुलाएगा।”<sup>(1)</sup>

अर्थतन्त्र के दबाव में, बाज़ार की हैसियत के अनुकूल गीत गढ़ने की होड पर व्यंग्य है। बिना हिचक के बाज़ार में शामिल होने के लिए उतारू हो रहे हैं कि -

“जी पहले कुछ दिन शर्म लगी मुझको; / पर बाद-बाद में अक्ल  
जगी मुझको, / जी, लोगों ने तो बेच दिये ईमान, / जी, आप न  
हो सुनकर ज़्यादा हैरान- / मैं सोच समझकर आखिर / अपने  
गीत बेचता हूँ।”<sup>(2)</sup>

हमारी संवेदनशीलता को जड बनानेवाली यह स्थिति एक सरल समस्या नहीं है। सांस्कृतिक सम्प्रेषण के माध्यमों का विज्ञापन बनना हमारी त्रासदी है। सांस्कृतिक उपनिवेशन के तहत अपना वर्चस्व स्थापित करने में साम्राज्यवादियों की सफलता की ओर कविता संकेत करती है। ‘रचना का

---

1. भवानीप्रसाद मिश्र - गीतफरोश - पृ. 166

2. वहीं - पृ. 166

बाज़ारीकरण सांस्कृतिक इतिहास की दुर्घटना है' इससे वाकिफ कवि की मूल्यचिन्ता कविता का सांस्कृतिक पक्ष है।

नयी कविता की जनवादी प्रवृत्ति, उसका बृहत्तर वैश्वविक संदर्भ, दुर्लभ ही सही उसमें उपलब्ध लोकदृष्टि, उसकी सामाजिक व राजनीतिक संपृक्ति आदि समकालीन कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ हैं। उपर्युक्त चर्चित प्रमुख कवि नयी कविता के दौर के हैं जिसमें ये प्रवृत्तियाँ उद्भासित होती हैं। उनमें से कुछ कवियों ने अपनी रचनात्मक सार्थकता एवं रचनात्मक संपन्नता के कारण समकालीन दौर में ही अधिक प्रासंगिक हो गये हैं। अतः यह रेखांकित करना ही पड़ता है कि नयी कविता की जनोन्मुखी चेतना समकालीन कविता के लिए विरासत बन गयी थी।

## अध्याय - 3

सांस्कृतिक संकट सम्बन्धी कवि - प्रतिक्रियाएँ

मुक्तिबोध की एक कविता है - 'ओ मेघ'

“ओ मेघ, / पुराने हो पर बार-बार आते हो / पुनः पुनः लौटते  
स्वप्न के गहन सत्य से... / इसीलिए / तुम नये नये लगते  
हो।”<sup>(1)</sup>

कविता में 'मन में घुलती हुई पंक्ति के प्रतीक के रूप में मेघ की अभिव्यक्ति हुई है। 'ओ मेघ' कविता दरअसल कविता को ही सम्बोधित है। पुरानी होकर भी बेहतर समाज के स्वप्न से प्रेरित होकर कविता नयी और मौलिक होकर बार-बार आती है। 'नहीं होती कहीं भी कविता खत्म नहीं होती कि वह आवेगत्वरित कालयात्री है का आशय भी यही है। सांस्कृतिक विकास की शुरुआत से लेकर कविता मनुष्य के साथ रही है। हर हालत में वह मनुष्य के पक्षधर होने की भूमिका निभाती आ रही है। इसी मानवीय आकांक्षा में कविता की जैविकता निहित है। मनुष्य की सृजनशीलता की पहली परिणति होने के कारण कविता का अस्तित्व और भविष्य निस्सन्देह मनुष्य के अस्तित्व और भविष्य से जुड़ा हुआ है।

आज कविता अनेकों सवालों के घेरे में है। अतः कवि-कर्म चुनौतीपूर्ण हो गया है। ऐसे में कविता और सामाजिक सरोकार के मद्देनज़र

---

1. सं. नेमीचन्द्र जैन - मुक्तिबोध-रजनावली, सं. 1998 - पृ. 56

कविता और कवि-कर्म को नये सिरे से आँकने के प्रयास हो रहे हैं। हर युग में कविता क्या है? कविता क्यों है? कविता का पक्ष क्या है? आदि पर विचार - विमर्श हुए हैं। आज भी यह मुद्दा विचारणीय है।

समय के बदलाव के अनुसार कविता के अंतरंग स्वभाव में कई प्रकार के परिवर्तन आये हैं। आज की जीवंत कविता अपने समय की माँग के अनुकूल पूरी तरह सांस्कृतिक होने के उपक्रम में लगी हुई है। अपने समय की चुनौतियों के प्रति जवाबदेह होने का प्रयास समकालीन कविता को व्यापक अर्थ दे रहा है। समकालीन कविता बार-बार अपनी पक्षधरता को दर्ज कर रही है। वह अपने में प्रतिवाद रचती है, अपनी प्रतिक्रिया दर्ज करती है। यही प्रतिवाद और प्रतिक्रिया समकालीन कविता की मुख्य मनोभूमि है। इसीलिए कवियों द्वारा कविता पर की जा रही टिप्पणियाँ निरी टिप्पणियाँ भर नहीं हैं। वे कवि की दृष्टि संपन्नता के उदाहरण हैं। वे कविता में भी कार्यरत रहती हैं। इस तरह समकालीन कविता समाज में अपनी अहमियत को दर्ज कर रही है। वास्तव में कविता सांस्कृतिक संकट के बहुआयामी सन्दर्भों को अंकित कर रही है। इसके लिए वह अपने लिए मुहावरा गढ़ रही है; अपना एक सौन्दर्यशास्त्र ढूँढ रही है। इसी क्रम में मानवीय संकट की स्थितियों के साथ ही साथ कविता की संकटग्रस्त स्थिति भी उभर कर आती है। कविता के संकट और मानवीय संकट सम्बन्धी बहुविध टिप्पणियाँ कवियों की प्रतिक्रियाओं में मिलती हैं। उनमें प्रमुख हैं कविता के बहाने प्रकटित टिप्पणियाँ और आलोचना के बहाने प्रकटित टिप्पणियाँ। इन दोनों प्रकार की टिप्पणियों में मौजूदा समय के प्रति कवियों की संवेदनशीलता ही बार-बार दर्ज होती नज़र आती है।

## कविता के बहाने

अपनी कविताओं के माध्यम से सांस्कृतिक संकट के बहुआयामी स्थितियों को सामने लाने और अपनी प्रतिक्रिया को दर्ज करने का कार्य कवियों द्वारा हो रहा है। इस प्रयास से बाहर कविता में कविता सम्बन्धी अपनी मूलभूत बेचैनी को, जिसके पीछे व्यापक सामाजिक परिप्रेक्ष्य है, चिह्नित करने की कोशिश भी जारी है। जैसे कि मुक्तिबोध ने कहा था कि

“कविता में कहने की आदत नहीं, पर कह दूँ / वर्तमान समाज  
चल नहीं सकता / पूँजी से जुड़ा हुआ हृदय बदल नहीं सकता /  
स्वातन्त्र्य व्यक्ति का वादी / छल नहीं सकता मुक्ति के मन को /  
जन को।”<sup>(1)</sup>

कविता में कहने की आदत के न होने के बावजूद कहने की तीव्र आकांक्षा जो दर्ज हुई है वह अकारण नहीं है। एक कवि होने के नाते अपने समय में पूरी तरह हास्तक्षेप करने की आन्तरिक बेचैनी सहज ही परिलक्षित होती है। एक ओर समय के संकट के प्रति चेतावनी दे रहे हैं तो दूसरी ओर अपनी आस्था को भी दर्ज कर रहे हैं। यह कविता से बाहर कवि की कविता सम्बन्धी उम्मीद है। साथ ही कवि के कविता सम्बन्धी सौन्दर्यबोध का परिचायक भी।

## कविता हलफनामा है

समकालीन कवि धूमिल ने कविता को इस प्रकार देखा है कि-

---

1. सं. नेमोचन्द्र जैन - मुक्तिबोध-रचनावलो-2, सं. 1980 - पृ. 383



“कविता / घेराव में / किसी बौखलाए हुए आदमी का / संक्षिप्त  
एकालाप है।”<sup>(1)</sup>

कविता कभी भी एकालाप नहीं हो सकती। वह समाज को ही सम्बोधित है। धूमिल स्वयं एकालाप का अतिक्रमण करने वाले कवि हैं फिरभी समस्याओं के घेराव में पड़कर बदहवास हुए आदमी के एकालाप के रूप में कविता को देखने के पीछे समकालीन सांस्कृतिक परिदृश्य ही मुख्य है। बैखलाहट की सीमा तक पहुँचे हुए आदमी को अंकित करते हुए कविता काल के छद्म को शब्दबद्ध करती है। मौजूदा गलत समय और कविता को एक साथ जोड़कर देखने का प्रयास अन्यत्र ‘मुनासिब करिवाई’ में भी हुआ है कि

“कविता / शब्दों की अदालत में / मुजरिम के कटघरे में खड़े  
बेकसूर आदमी का / हलफनामा है।”<sup>(2)</sup>

कविता उस आदमी को दर्ज करती है जो गलत सामाजिक व्यवस्था में निरन्तर दबाव का शिकार हो रहा है। धूमिल अपने समय की परिभाषा प्रस्तुत कर रहे हैं कि ‘यह आदमी के भेस में शातिर दरिंदों का समय है। अपने वर्चस्व को बनाए रखने के लिए विरोध के हर शब्द को दबाने वाले दरिंदों का समय है। उनकी हिंसा का वर्चस्व बढ़ रहा है। उनकी साजिशों के रहते संवेदनशील रचनाकार की जगह कटघरे में है। कविता की बुनियादी शर्त मनुष्य के प्रति ईमानदारी है। अपनी इस बुनियादी आकांक्षा को लेकर रचनाकार मनुष्य के खिलाफ होनेवाले हर षडयन्त्र को सामने

---

1. धूमिल - संसद से सडक तक, प्र.सं. 1972 - पृ. 10

2. वहाँ - पृ. 91

लाता है। इसी क्रम में वह सत्ता केन्द्रों की नज़र में अपराधी साबित होता है। सत्ता कभी भी विरोध को बर्दाश्त नहीं करती है। हर मुमकिन तरीकों से वह रचनाकार पर पाबन्दी लगाती है। इतिहास गवाह है कि अधिकार केन्द्रीकरण के अधीन हर काल में प्रतिबद्ध सर्जक साहित्यकार की स्थिति असुरक्षित रही है। विरोध को दबाने के लिए सत्ता लेखक की मूलभूत अनिवार्यता, अभिव्यक्ति की स्वाधीनता को छीन लेती है। दरअसल अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता सर्जक की अनिवार्य शर्त है। अतः उस पर पाबन्दी लगाना समाज के चिन्तन पर गतिरोध उत्पन्न करना है। कविता की स्थिति असुरक्षित है। अतः यह कविता पर बहस का समय है। धूमिल की माँग है कि

“वक्त बहुत कम है / इसलिए कविता पर बहस / शुरू करो /  
और शहर को अपनी ओर झुका लो / क्योंकि असली अपराधी  
का / नाम लेने के लिए / कविता सिर्फ उतनी ही देर तक सुरक्षित  
है / जितनी देर, कीमा होने से पहले, / कसाई के ठीके और तनी  
हुई गँडास के बीच / बोटी सुरक्षित है।”<sup>(1)</sup>

कविता वह हलफनामा है जो असली अपराधी के खिलाफ दर्ज है। वह हर कीमत पर मनुष्य विरोधी ताकतों के खिलाफ बोला गया शब्द है। कविता की अपनी अहमियत भी यही है।

**कविता आदमी होने की तमीज़ है**

संस्कृति मनुष्य को मनुष्य बनाए रखती है, मनुष्य के सौन्दर्यबोध को निर्धारित करती है। कविता का धर्म भी यही है। इसीलिए वह सांस्कृतिक

---

1. धूमिल - संसद से सड़क तक, प्र.सं. 1972 - पृ. 93

प्रक्रिया के रूप में परिभाषित हुई है। कविता अपने में सही आदमी की उपस्थिति है। कविता ही मनुष्य को संवेदनशील बनाती है। दूसरे सिरे पर मनुष्य की संवेदनशीलता और उसके विवेक की अभिव्यक्ति कविता है। इसी अर्थ में धूमिल लिखते हैं कि

“कविता / भाषा में / आदमी होने की तमीज़ है।”<sup>(1)</sup>

यह सवाल भी साहित्यकार की संवेदनशीलता से जुड़ा हुआ है। लेखक की विशिष्टता यही है कि वह अन्यों की अपेक्षा संवेदनशील है और सम्प्रेषणीय भी। इसी संवेदनशीलता के कारण वह मनुष्य का पक्ष लेता है। दिन-ब-दिन अमानवीयता की ओर अग्रसर सामाजिक स्थिति में साहित्यकार की अहम भूमिका है। अपनी इस भूमिका के प्रति सजग रहना, अपने विवेक को हमेशा जागृत रखना रचनाकार की बुनियादी शर्त है।

**कविता अपने में विरोध की भाषा है।**

निरन्तर बल पकड़नेवाले मानवीय संकट के दौर में कविता की भूमिका बहुआयामी है। इनको निभाहते वक्त भी कविता अक्सर अमूर्त क्यों लगती है? देवी प्रसाद मिश्र की कविता ‘कविता’ अपनी अमूर्तताओं के सवाल को लेकर विकास पायी है। कवि का कहना है कि वह समाज के अमूर्त पक्षों को ही अपने में समेटती है। शक्ति केन्द्रों के निरन्तर मूर्त होने के क्रम में समाज में कुछ अमूर्त या नदारद हो रहे हैं। इन्हीं नदारद पक्षों को कविता अपने में संजोती है।

---

1. धूमिल - संसद से सड़क तक, प्र.सं. 1972 - पृ. 91

इमारतें, तलवार, नगर, राजा की सेना आदि दिखते हैं / क्या इसीलिए वे हैं / सच, नैतिकता, ईमानदारी नहीं दृष्ट हैं / क्या इसीलिए वे नहीं है / तो अभय! जो न दिखे / उसे देखने की कोशिश करो / जो सुनायी न दे उसे / सुनने की कोशिश करो / जो न समझ में आये उसे / समझने की कोशिश करो / इसी तरह / इसी तरह कविता को भी / कविता में विकसित होते विरोध को भी।”<sup>(1)</sup>

अधिकार केन्द्रीकरण के कारण समाज में नैतिक मूल्यों का हास्र हो रहा है। सच्चाई, ईमानदारी, आदर्श, सहयोग, विश्वास सरीखे मूल्यसापेक्ष शब्दों को अपने अर्थ से अपदस्थ करने की कोशिशें हो रही है। समाज में ऐसे थल निरन्तर सिकुडते जा रहे हैं जो मानवीयता को बचाये रखते हैं। यहीं से समाज की गतिशीलता अवरुद्ध होती है। इस अवांछित स्थिति को कविता तोडती है। कविता अपने में विरोध की भाषा है।

### कविता वक्तव्य नहीं गवाह है

मनुष्य के सांस्कृतिक विकास की सहज परिणति है कविता। ऐसे में कविता और संस्कृति का अन्तर्संबन्ध भी स्पष्ट है। संस्कृति समाज में मानवीयता को बरकरार रखती है। संस्कृति के प्रतीक-चिह्न के रूप में कविता का अपना महत्व असंदिग्ध है कि इन्सानियत को बनाए रखने का उपक्रम कविता का भी बुनियादी धर्म है। आज मानवीयता संकट में है। इसकेलिए कारण बनी प्रतिगामी स्थितियों के प्रति जवाबदेह होने की

---

1. देवीप्रसाद मिश्र - प्रार्थना के शिल्प में नहीं, प्र.सं. 1989 - पृ. 59, 60

कोशिश में वह लगी हुई है। अपने समय की मनुष्यविरोधी स्थितियों को वह दर्ज करती है। ऐसे में कुंवरनारायण कहते हैं कि-

“कविता वक्तव्य नहीं गवाह है / कभी हमारे सामने / कभी हमारे पहले / कभी हमसे बाद / कोई चाहे भी तो रोक नहीं सकता / भाषा में उसका बयान / जिसका पूरा मतलब है सच्चाई / जिसकी पूरी कोशिश है बेहतर इन्सान।”<sup>(1)</sup>

कविता भाषा में सच्चाई का बयान है। कविता विरोधी साजिशों के खिलाफ वह तनकर पूरे संकल्प के साथ खड़ी है जिसके मूल में मनुष्य की चिन्ता मुख्य है। इन्सान को बेहतर इन्सान बनाए रखते हुए मूल्यों की स्थापना करना और उसे बरकरार रखना भी कविता की अपनी संकल्पबद्धता है। मानवीयता को हर कीमत पर बचाए रखने की कसावट कविता की अपनी पहचान है।

### कविता अपने में मानवीय उपस्थिति है

हर कीमत पर समकालीन कविता प्रतिरोध की ज़मीन पर खड़ी है। वह अपने में प्रतिसंसार रच रही है। एक ओर कविता को मनुष्य की स्मृतियों से, इतिहास से खारिज करने के प्रयास हो रहे हैं। दूसरी ओर अपने पूरे संकल्प के साथ कविता हमारे बीच में उपस्थित है। कविता की उपस्थिति स्वयं एक विकल्प है। कात्यायनी 'क्या स्थगित कर दे कविता' में कविता की उपस्थिति के सवाल को उठाती है। नव औपनिवेशिक माहौल

---

1. कुंवरनारायण - कोई दूसरा नहीं, दूसरा सं. 2000 - पृ. 53

की आड में फासीवादी शक्तियाँ तीसरी दुनिया में आज अपनी जड मज़बूत कर रही है। भारत को पुनः मध्यकाल की ओर धकेलने के प्रयास हो रहे हैं। धर्म के मानवीय अर्थों को नेपथ्य में धकेलकर नये अर्थ गढ़ने की कोशिश हो रही है। साम्प्रदायिकता को उकसाकर खून की नदियाँ बहा दी जा रही है। खुली सड़क पर लाशें गिर रही है। मानवीय गरिमा की निरन्तर तबाही हो रही है। ऐसे में कात्यायनी सोचती है कि 'क्या स्थगित कर दे कविता?' कविता की भूमिका पर भरोसेमन्द होकर भी अपने समय की अमानवीय हरकतों को तुरन्त खत्म न कर पाने की कवि पीडा भी दर्ज है। इसी तनाव के तहत कविता को फिलहाल कुछ समय के लिए स्थगित करने को सोचती है। दूसरी ओर हिंसा के प्रायोजकों द्वारा कविता को समाज से, स्मृति से इतिहास से, लोगों की आँखों से खारिज करने के प्रयास हो रहे हैं। ऐसे में यही सवाल उभरता है कि-

*“क्या स्थगित कर देने के बाद भी क्या गारण्टी होगी ज़िन्दा रहने की। / कठिन से कठिन शर्तों पर भी / आदमी बने रहने की।”<sup>(1)</sup>*

जाहिर है कि कविता ही वह मुकाम है जिसमें मनुष्य को मनुष्य का दर्जा मिल सकता है। अतः षडयन्त्रों के प्रत्युत्तर में हर हालात में कविता को बचाकर रखने की आकांक्षा मानवीयता को बरकरार रखने की बुनियादी आकांक्षा का ही परिणाम है। इसी उपस्थिति के विकल्प के व्यापक अर्थ में समकालीन कविता समाज में अपनी अहमियत को दर्ज कर रही है।

---

1. कात्यायनी - राख अन्धरे की बारिश में, सं. 2004 - पृ. 37

## कविता बेहतररीन का सपना है

हम और भी आश्चर्य है कि कविता सपनों के साथ हमारे बीच उपस्थित है। वर्तमान तमाम प्रतिगामी स्थितियों के खिलाफ कविता कारगर लड़ाई है। बेहतररीन समाज उसका हमेशा लक्ष्य रहा है। यही कविता का सपना है। सपने की ठोस ज़मीन पर कविता खड़ी है। इसी ध्येय के रहते वह मनुष्य के विवेक को निरन्तर सजग बनाती है। कविता सांस्कृतिक अनुशासन है जो मनुष्य की चेतना को लगातार परिमार्जित करती है, उसका संशोधन करती है। उसके सौन्दर्यबोध को निरन्तर मानवीय बनाती है। इसी जीवनदृष्टि के कारण बेहतर दुनिया का सृजन संभव हो सकता है। विश्वनाथप्रसाद तिवारी के शब्दों में

“जिस दुनिया में लिखी जाएगी / बेहतर कविताएँ / वही होगा बेहतर दुनिया / शब्द और अर्थ नहीं है कविता / सबसे सुन्दर सपना है / सबसे अच्छी कविता।”<sup>(1)</sup>

आस्था का दूसरा नाम सपना है। कविता बेहतर दुनिया के सपने की उपज है। सपने की अनिवार्यता भी स्पष्ट है कि इसी से संघर्ष का आरंभ होता है। नव औपनिवेशिक जालसाजियों में एक है उपभोगवादी संस्कृति। इसके तहत तात्कालिक इच्छाओं व आकांक्षाओं का भ्रमजाल तैयार हो रहा है। इसके घोराव में लोग एकदम निजी सपनों की दुनिया में विचरण कर रहे हैं। ऐसे में कविता सामाजिक या सार्वजनिक स्वप्न की प्रेरणा से जन्म ले रही है। राजेश जोशी इसी अर्थ में कविता को जादू से जोड़ने की हद तक जाते हैं-

1. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी - आज्ञा अबल ३. ६. १९९१

“जादू है / जादू है / जादू है कविता / जो है / जो जैसा है /  
तुरत-फुरत / पलक झपकते / सब कुछ / बदल डालने की  
ललक जादू / जादू / खाली टोकरी से / निकलता है / कबूतर /  
गुटर गूँ करता / भरता है लम्बी-लम्बी उडान।”<sup>(1)</sup>

यहाँ यथार्थ का सरलीकरण कवि का ध्येय नहीं है बल्कि कवि की यह स्वप्न दृष्टि है। पलक झपकते ही सबकुछ बदल डालने की ललक जादू है। कविता को जादू से जोड़ने का आग्रह कवि की यथार्थवादी दृष्टि का नतीजा है। स्वप्न और यथार्थ एक ही आयाम के दो पहलू हैं। वह कभी पलायन का पर्याय नहीं हो सकता। कविता में यह आस्थावादी दृष्टि है। आस्था स्वयं एक मूल्य है। खाली टोकरी से निकलकर कबूतर लम्बी उडान भरता है। कविता भी उडान भरना चाहती है। यानी फैंटेंसी में विचरण करना चाहती है। यह आग्रह भी कविता की मानवीय आकांक्षा का ही दृष्टांत है। कविता की आशावादी दृष्टि है कि समाज में बेहतर नामूमकिन नहीं है। बेहतर का यह सपना यथार्थ की पहचान की उपज है। कविता में यह स्वप्न दृष्टि कवि के निरन्तर संघर्षरत मन की उपज है।

### कविता के प्रदेश से बाहर कविता

“स्मृति स्वप्न नहीं / आशाएँ भ्रम नहीं / जगत मिथ्या नहीं /  
कविता जादू नहीं / सिर्फ कवि हम नहीं।”<sup>(2)</sup>

यह पंक्तियाँ समय को समाज के साथ जोड़कर देखती हैं। कविता और यूटोपिया के सवाल को लेकर ही कात्यायनी कहती है कि ‘आशाएँ

1. राजेश जोशी - धूप घड़ी, प्र.सं. 2002 - पृ. 87

2. कात्यायनी - जादू नहीं कविता, प्र.सं. 2002 - पृ. 159



भ्रम नहीं'। यथार्थ की ठोस ज़मीन पर खड़ी होकर कात्यायनी आशाओं को भ्रम मानने से इनकार करती है। आशा-आकांक्षाएँ मनुष्य की प्रेरणा है। इसी प्रेरणावश हम निराशा से उबर पाते हैं। कविता हमेशा आस्था का पथ ही प्रशास्त करती है। इसमें स्मृतियों की खास भूमिका है। अतीत हमारी प्रेरणा है। वह दिशा निर्देश की भूमिका निभाता है। फिर भी स्मृतियों में अटके रहने का तात्पर्य भविष्य को अवरुद्ध करना ही है। कविता की दृष्टि आगामी समय की ओर रहती है। कविता की रचनाभूमि भविष्य स्वप्न से जुड़ी हुई है।

'कविता जादू नहीं', कविता जिस सामाजिक समय से गुज़र रही है उसमें कविता को जादू मानने से कात्यायनी इनकार करती है। जादू एक चमत्कार है। वह हमें यथार्थ की ज़मीन से अलग अयथार्थवादी संसार में ले जाता है। कविता सब कुछ को एक पल में बदलने के कबिल नहीं है। कविता का सीधा सरोकार मनुष्य की संवेदनशीलता से है। वह मनुष्य की आत्मा को विचलित करते हुए सोच की प्रेरणा बनती है। यह प्रभाव सतही नहीं है। कविता मनुष्य की संवेदना का ताप बनी रहती है। सामाजिक स्तर पर बदलाव की प्रक्रिया यहीं से शुरू होती है। यानी कविता सब कुछ धीरे ही संवार पाती है।

'जगत मिथ्या नहीं', शंकराचार्य ने कहा कि जगत मिथ्या है, लीला है, माया है। जबकि जिन लहू-लुहान वास्विकताओं से निरन्तर गुज़रने के लिए बाध्य हो रहे हैं, उन अनुभवों के रहते जगत को मिथ्या मानना नामुमकिन है। इस संसार में सब कुछ नश्वर है। इसके बावजूद बहुसंख्यक

आमआदमियों को मथनेवाली वास्तविकताएँ अनश्वर बनी रहती है। उत्पीडन का इतिहास सदियों पुराना है जिसकी निरन्तरता टूटी नहीं, बल्कि बल पकड रही है। ऐसे में भीषण वास्तविकताओं को अनदेखा करते हुए दार्शनिक ऊहापोहों की स्वीकृति किस कदर विडम्बनाजनक होगा यह अहम सवाल है। यह देखा गया है कि वास्तव में शंकराचार्य के दार्शनिक विचार अभिजन को ही सम्बोधित है। या उन्हीं के पक्ष में है। विवेकानन्द ने भी इस ओर संकेत किया है। दरअसल मध्यकाल में अमूर्त आध्यात्मिकता की राह में ही दर्शन पेश हो पाते थे। परम्परानुमोदित व्यवस्था के हिमायती दार्शनिकों में शंकराचार्य, रामानुज और मध्वाचार्य भी शामिल हैं। मनुस्मृति का समर्थन करते हुए शंकराचार्य ने भी यह कहने की कोशिश की है कि वेदाध्ययन का अधिकार अभिजनों तक सीमित है।<sup>(1)</sup> दरअसल हर दर्शन के मूल में मनुष्य की चिन्ता ही रहती है। मनुष्य की खुशहाली उनका लक्ष्य है। इसके बावजूद जब वह अमूर्त आध्यात्मिकता की सीमा तक पहुँचता है तब मनुष्य को नज़रअन्दाज़ करने का मौका भी कम नहीं है। कविता इन्हीं रूढ़ियों के खिलाफ है। कात्यायनी का कहना है भौतिकता को अनदेखा करते हुए अलौकिकता से संवाद, हास्यास्पद होगा।

‘सिर्फ कवि हम नहीं’ कात्यायनी हमारे समय की सबसे बुनियादी आकांक्षा और अनिवार्यता पर बल दे रही है। अपसंस्कृतिक स्थितियों के बरक्स कविता अपने में प्रतिसंसार रचती है। लेकिन कविता के भीतर ही उसकी मुखरता, आक्रोश, असन्तोष सब सीमित नज़र आते हैं। वर्तमान दौर में कवियों की भूमिका का कविता तक सीमित रहने की प्रवृत्ति कहाँ

---

1. के. दामोदरन - भारतीय चिन्ता (मलयालम किताब) - पृ. 100

तक सार्थक साबित हो सकता है, यह अहम सवाल है। कविता की उपस्थिति का दायरा बहुत सीमित है। आस्वादन तक सीमित कविता का असन्तोष महज शब्दाडम्बर में सीमित रहने की संभावना है। अतः कात्यायनी शब्द को कर्म से जोड़ने की माँग कर रही है। जिस जन को समकालीन कविता केन्द्रीय चिन्ता बना रही है उन्हीं के बीच रहकर उन्हीं के लिए आवाज़ उठाना कविता के जिम्मे है। कात्यायनी कविता के बाहर अपनी मौजूदगी की अनिवार्यता को दर्ज कर रही है 'गुजरत 2002' कविता में भी।

*“गुजरात के बाद कविता संभव नहीं / उसे संभव बनाना होगा /  
कविता को संभव बनाने की कार्यवाही / होगी कविता के प्रदेश से  
बाहर।”<sup>(1)</sup>*

समाज के गतिरोध को तोड़ने के लिए कविता से बाहर जनपद तक कविता की यात्रा को तय करने की माँग वह कर रही है। कविता द्वारा उनको सजग बनाने की माँग भी वह कर रही है। उनके पास जंजीरों के सिवा खोने को कुछ भी नहीं है। कवियों के लिए शर्त यही है कि 'जीवन की गतिकी का ज्ञान, उनके पास ले जाना है।' कविता में चिह्नित विचार उन्हीं के पास पहुँचकर ही भौतिक शक्ति बन सकती है। अहम सवाल है कवियों का उन तक पहुँचना। कविता कभी भी नारेबाजी नहीं है। फिर भी समय के अनुकूल निर्णायक बनने में ही उसकी ईमानदारी निहित है। अब नरसंहारों के दौर में सुगम-सुरक्षित विरोध की नपुंसक राह ढूँढ लेना बर्बरता के पक्ष

---

1. हंस - मई 2002 - पृ. 17

में खड़े होने के समान है।' अतः गुजरात के बाद कविता को संभव बनाने के लिए कविता के प्रदेश से बाहर आना है। हमारे समय का यह निर्णायक सवाल है। कविता को आज मुखर बनाना है। चन्द्रकान्त देवताले अपनी कविता 'इस कविता का केन्द्रीय शब्द है हिंसा' में फासीवादी शक्तियों के बीच मुसीबतदा लोगों को लेकर अपनी चिन्ता के तहत प्रतिहिंसा को कविता का केन्द्रीय शब्द बनाते हैं। विधिवत आचार संहिताएँ जालसाजी गठबन्धनों की संहिताएँ हैं। हाशियाकृतों के साहस को नष्ट करके सतत प्रताडना द्वारा अपने काबू में रखने के लिए हिंसा को शास्त्र सम्मत करार दिया गया है। इन साजिशों के खिलाफ कविता अपने में शब्दों के चाकू को रचना चाहती है।

*“शब्द चाकू है और चाकू प्रश्न / मई के मध्याह्न के सूरज के ठीक नीचे / इन दोनों की अजमाइश ज़रूरी है / ताकि फूटकर बह सके / शास्त्र की पसलियों में सतत घर किया मवाद।”<sup>(1)</sup>*

मनुष्य पर होने वाले हमलों के खिलाफ कविता एक प्रतिसंसार रचती है। एक प्रतिरोधी ताकत के रूप में वह मुखर होती है। मानवीय संकट के दौर में यही कविता का भविष्य और प्रकारान्तर से मानव का भविष्य होगा। यहाँ कविता, कविता के स्तर पर अपना विरोध दर्ज कर रही है। उसमें यह उम्मीद है कि वह मनुष्य की सोच की प्रेरणा बन सकती है। उसे मनुष्य की असीम धीरज पर भरोसा है।

---

1. चन्द्रकान्त देवताले - उजाड़ में संग्रहालय, प्र.सं. 2003 - पृ. 28

## आलोचना के बहाने

कविता द्वारा अपने समय पर हस्तक्षेप करने वाली भीषण स्थितियों का आकलन कवियों ने प्रस्तुत किया है। यह उनका एक तरीका है। दूसरा तरीका यह है कि वे अपनी आलोचना को माध्यम बना रहे हैं। वे कवि-आलोचक के रूप में अपनी खास पहचान दे रहे हैं। मानवीय संकट को किसी भी कीमत पर सरलीकृत करके देखना कवि-कर्म की तबाही होगा। इसी तीव्र चिन्ता के रहते कविता मात्र में सीमित न रहकर अन्य माध्यमों का सहारा वे ले रहे हैं। समय को लेकर अपनी बेचैनी और कविता को एक साथ जोड़ते हुए समाज के साथ अपनी मुठभेड़ को बनाए रखने के लिए सृजनात्मकता के अन्य धरातलों पर जाते हैं। कविता मात्र में सीमित रहने की अपर्याप्तता से वाकिफ होकर ही अज्ञेय, मुक्तिबोध, शमशेर, रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह जैसे पूर्ववर्ती कवियों ने रचनात्मकता के अन्य मुकामों पर खड़े रहने का प्रयास किया था। इसी परम्परा में समकालीन कवि कविता संकलनों की भूमिकाओं, पत्रिकाओं व अपनी आलोचनात्मक पुस्तकों की टिप्पणियों के ज़रिए अपने समय के साथ सार्थक संवाद बनाए रखे हैं।

## कविता नैतिक प्रतिरोध है

आज हम जिस मानवीय संकट से गुज़रने के लिए मजबूर बनते जा रहे हैं उसके मूल में नैतिक रिक्तता ही कार्यरत है। भौतिक विकास के छद्म को रचने का प्रयास हो रहा है कि नैतिकता निरन्तर नष्ट होती जा रही है। जबकि नैतिक विकास के बिना समाज की प्रगति अवरुद्ध हो जायगी।

नैतिक क्षरण का ही नतीजा है कि मनुष्य, मनुष्य के खिलाफ होता जा रहा है। ऐसे में कविता की भूमिका असंदिग्ध है कि वह रिक्त स्थान को भरने की कोशिश करें। अरुणकमल के शब्दों में “कविता सम्पूर्ण पतन के विपक्ष में है इसलिए स्वभावतः यह एक नैतिक प्रतिरोध है। एक खास बात यह हुई है कि केवल सामाजिक - राजनीतिक या बाह्य अन्तर्विरोधों तक ही दृष्टि केन्द्रित नहीं है बल्कि मनुष्य के भीतर उसके मन में जो चल रहा है जो उत्थानपतन हो रहा है उसे पकड़ने की कोशिश भी कविता कर रही है।”<sup>(1)</sup> इसी मनोभूमि को लेकर सांस्कृतिक गतिरोध के सन्दर्भ में समाज में वह अपनेलिए जगह खोज रही है। इसी सन्दर्भ में अशोक वाजपेयी का कहना है कि कविता नैतिक अकुलाहट को लेकर प्रतिकृत हो रही है “जीने में भौतिक के अलावा बहुतेरी नैतिक और आन्तरिक झंझटें भी होती हैं - कविता शायद इन झंझटों को समझने और किसी हद तक अपने और उनके प्रति चौकन्ना रहने ओर किसी तरह का संतुलन पा सकने में मदद कर सकती है।... कठिनाइयों से मुँह फेरकर या उसके ब्यौरों को नज़र अन्दाज़ करने नहीं बल्कि सारी बारीकियों का सामना कर उनके सूक्ष्म और नैतिक अहसास से कविता कठिन समय में लाचारी के बजाय नैतिक प्रतिरोध और उत्तर जीविता की विधा बन सकती है।”<sup>(2)</sup> कविता की उत्तर जीविता उसके नैतिक होने में है। जो प्रकारान्तर से मनुष्य की, मनुष्य के रूप में उत्तर जीविता भी संभव बनाती है। इसी आकांक्षा को लेकर कविता अपने में एक प्रति संसार रचती है जहाँ मूल्य सुरक्षित रहते हैं। वह अर्थ से अपदस्थ

---

1. अरुण कमल - कविता और समय, सं. 1999 - पृ. 232

2. अशोक वाजपेयी - कविता का गल्प, सं. 1997 - पृ. 116, 117

मूल्यों को बचाए रखती है ताकि मनुष्य और मनुष्य के बीच का संवाद बरकरार रख पाये। इस आपसी संवाद के टूटने के क्रम में समाज गतिरोध की स्थिति की ओर अग्रसर हो रहा है। ऐसे में कविता की स्थिति और उसकी इच्छा भी अभिव्यक्ति पायी है कि “इस उत्तर आधुनिक परिदृश्य में कविता की स्थिति डाक में खोई उस चिट्ठी की सी है जो चाहती है कहीं पहुँचना, पर पहुँच नहीं पाती इस कठिन समय में जब समय से स्थान, देह से मन, समष्टि से व्यष्टि विच्छिन्न हो चला है (नाभिकीय नाल की) उनकी आपसी पकड छूट गई है और आकाश से धरती की बन्द है बातचीत कविता चाहती है संवाद आत्मा का आत्मा से, परम्परा का प्रयोग से, मनुष्य का मनुष्य से। नैहर आयी बेटी से माँ का जैसा अविरल अभग, सतत प्रवाहमान, सरस संवाद होता है - कुछ वेसा ही संवाद कविता जन जन से चाहती है। घर के किसी कोने में अनाहत पडे वयोवृद्ध ज्ञानवृद्ध अभिभावक की तरह कविता चाहती है लोगों के सूक्ष्मतम भाव-तरंगों सुख-दुःख, उत्थान पतन से जुडना, पर लोग उसे अभेद्य, अभूझ और अप्रासंगिक समझकर किनारा किये रखते हैं और उसका संवाद अधूरा रह जाता है।”<sup>(1)</sup> यहाँ कविता की भूमिका, उसकी आकांक्षा और उसकी वर्तमान हालात एक साथ दर्ज है। कविता जन-जन से आत्मीय रिश्ता कायम रखना चाहती है ताकि जन-जन के बीच का आपसी संवाद भी कायम रह पाये।

### कविता सत्य और सौन्दर्य की प्रतिकृति है

आज समाज के हर क्षेत्र में अधिकार का हस्तक्षेप मजबूत है। परिणामस्वरूप मनुष्य अपने को हास्यास्पद स्थिति में पा रहा है। मानवीय

---

1. अनामिका - अनुष्टुप, प्र.सं. 1998, भूमिका से

गरिमा या मानवीय अधिकार से वह वंचित हो रहा है। अपनी अर्थवत्ता को बनाए रखने की संभव जगहों को मनुष्य की नज़र से ओझल कराने के प्रयास हो रहे हैं ताकि वह विकल्पहीन हो जाए। ऐसे में कविता ही वह मोर्चा है जो मनुष्य को अपनी पूरी अर्थवत्ता के साथ बने रहने की राह दिखाती है। विष्णुनगर के शब्दों में “शायद कला यह बताती है कि यह जीवन जीने योग्य है न केवल जीने योग्य बल्कि सम्मान से जीने योग्य। इसलिए कविता और कला जीवन का सत्य बताती है, जिसमें हर मनुष्य को अपनी पूरी संवेदना, शक्ति और संभावनाओं के साथ जीने का ‘स्वाभाविक’ अधिकार होगा। इस स्वाभाविक अधिकार की याद कविता दिलाती है कई तरह से, कई मायावी ढंग से। इसलिए कविता और कला ऐसे हर ‘सत्य’ के पीछे जाती है जो छिपा है या छिपाया गया है।”<sup>(1)</sup> कविता हमेशा सत्य के प्रति सजग रहती है। सच्चाई को उसकी पूर्णता में पाने की तीव्र आकांक्षा कविता की अपनी खास पहचान है। सवितासिंह के भी शब्दों में “कविता सत्य से उन छिपे हुए पहलुओं तक जा पाती है जिसका दर्शन या विज्ञान निषेध करते दिखते हैं। कविता का आसली सरोकार सत्य को उसके सौन्दर्य में पाना होता है। अपने इस सरोकार को जो कविता जितनी दूर तक हासिल करती है उतनी ही वह बाहर के यथार्थ में हस्तक्षेप कर पाती है।”<sup>(2)</sup> सच्चाई को उसकी पूर्णता में पाने के साथ समाज में सौन्दर्य की स्थापना भी कविता के जिम्मे है। समाज में मनुष्य के लिए वांछित स्थिति को बरकरार रखने की सार्थक कोशिश कविता का व्यापक अर्थ है। सच्चाई, सौन्दर्य और न्याय एक ही आयाम के बहुविध पहलू हैं। इनका सरोकार मनुष्य के लिए समाज

---

1. विष्णुनगर - कविता में साथ-साथ, प्र.सं. 2004 - पृ. 150

2. आलोचना जनवरी-मार्च 2003, कविता का आवास शीर्षक सविता सिंह का लेख - पृ. 46



में बेहतर स्थिति के निर्माण से है जिसकी कोशिश कविता को सार्थक बनाती है। दर्शन और विज्ञान से बढ़कर भले ही कविता दर्शन का सहारा लेती है, कविता का अपना सार्थक हस्तक्षेप है।

### शब्द को बचाने की आकांक्षा

सांस्कृतिक संकट के सन्दर्भ में समकालीन कवि भाषायी समस्या को भी कविता की चिन्ता बना रहे हैं। भाषा की समस्या गंभीर विचार की माँग इसलिए करती है कि वर्तमान दौर भाषायी अवमूल्यन का है। भाषा हमारे स्वत्व की पहचान है। वह हमारी सांस्कृतिक अभिव्यक्ति को संभव बनाती है। आज मनुष्य के खिलाफ जो साजिशें जारी हैं उनके रहते शब्द और अर्थ का फासला निरन्तर बढ़ रहा है। सांस्कृतिक संकट के दरमियान भाषा की समस्या कविता के सन्दर्भ में खास अर्थ रखती है। कविता के सन्दर्भ में भाषायी समस्या सम्प्रोषण का सवाल भर नहीं बल्कि अनुभव का सवाल है। रचना और जीवनानुभवों के आपसी सरोकार भाषा से ही संभव हो पाती है। कवि भाषा में सोचता है और अनुभव के अनुरूप भाषा को गढ़ता है। प्रत्येक शब्द कविता का अनुभव है। शब्द के ज़रिए कविता अर्थविस्तार पाती है। इसी सन्दर्भ में अज्ञेय ने रचनाशीलता की समस्या पर विचार किया था कि “पूरा समाज जिस भाषा के साथ जीता है, उसमें उसके साथ जीते हुए अगर हम उस जीवन सन्दर्भ को पहचानते हैं और उस भाषा में रचना करते हैं तो हमारा समाज भी रचना शील हो सकता है।”<sup>(1)</sup> हर हालत में रचना का बुनियादी कर्म मूल्यों को बचाये रखना है। अतः

---

1. अज्ञेय - कुरु और पृथिवी - ६. ८. ७७

सांस्कृतिक गतिरोध के सन्दर्भ में सृजनशीलता भी चुनौतीपूर्ण हो जाती है। अपने काल की नब्ज को पकड़ने में काल के परिप्रेक्ष्य में मनुष्य की सही स्थिति की अभिव्यक्ति में गतिरोध उत्पन्न करना पूँजीवादी साजिश का ही परिणाम है। इसी सन्दर्भ में मुक्तिबोध ने 'शब्दों का अर्थ जब' कविता में शब्दों के अपव्यय की बात उठायी थी। अज्ञेय की 'शब्द और सत्य', धूमिल की 'भाषा की रात' और 'कवि 1970' जैसी कविताएँ भाषायी सवाल पर केन्द्रित हैं।

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी शब्द को कविता का सबसे महत्वपूर्ण अंश घोषित करते हुए कविता के धर्म पर प्रकाश डालते हैं कि "कवि उस दुनिया का साक्षात्कार करता है जो पाठक या श्रोता के चारों ओर है पर उनकी दृष्टि से ओझल है। चीज़ें जो अर्थहीन हैं, निरर्थक लगती हैं, रचना में उजागर होकर एक नया अर्थ देने लगती हैं। कवि अर्थहीन दुनिया को अर्थ देता है, शब्दहीन दुनिया को शब्द देता है, मौन को मुखर करता है। कविता शब्द और अर्थ की साधना है।"<sup>(1)</sup> कविता में शब्द अर्थ विस्तार पाते हैं। यथार्थ को उजगर करते हुए छलनामय घोषणाओं को कविता तोड़ती है। कविता में शब्द और कर्म अलग चीज़ें नहीं हैं। कविता का हर शब्द वह जगह है जो हमें सोचने के लिए बाध्य करती है। हमें भाषाहीन, साहसहीन और अर्थहीन बनानेवाली साजिशों के खिलाफ कविता प्रतिभाषा रचती है। यानी वह हमारी खामोशी को तोड़ती है। अन्य ज़मीन पर खड़े होकर अशोक वाजपेयी भी शब्द की अर्थवत्ता को बनाए रखने की बात उठा रहे हैं। कि "शब्द को बचाना, उसे कल्पना द्वारा सच बीच अपनी आत्मा और जीवनाभा से घोटित करना कलावादी होना नहीं है बल्कि

---

1. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी - कविता क्या है? सं. 1992 - पृ. 45

मनुष्य के कालजयी आविष्कार को बचाना है। उसकी जिजीविषा और मौलिकता को सँजोना है। शब्द की अतिजीविता मनुष्य और मनुष्येतर संसार के असंख्य सम्बन्धों और संयोजनों की अतिजीविता है।”<sup>(1)</sup> इसी अर्थ में ‘कविता अतिजीवन के संगीत’ के रूप में परिभाषित हुई है। मनुष्य की जिजीविषा और उसके अपने होने के अर्थ की प्रतिकृति है कविता। अतः शब्द को बचाने की आकांक्षा मनुष्यता के क्षरण के दौर में मानवीयता की उपस्थिति को पुख्ता बनाने की आकांक्षा है। शब्द मनुष्य का कालजयी आविष्कार है। वे मनुष्य के असंख्य संघर्षों का परिणाम है। उनको मनुष्य सांस्कृतिक विकास के हर मोड़ में अपने श्रम के बलबूते अर्जित किया है। उनमें मनुष्य के प्रत्येक काल के अनुभव संजोए हुए हैं। यानी हमारे पूर्वजों में अपने मूल्यबोध के तहत शब्दों को अर्जित किया है। अतः वह हमारा धरोहर है। एकान्त श्रीवास्तव ने लिखा है कि एक कवि का दायित्व भाषा में उन शब्दों को बचाए रखना भी है जो विस्मृत और विलुप्त होते जा रहे हैं। यह अपसंस्कृति और स्मृतिहीनता का दौर है। ....बदलती हुई जीवनस्थितियों और बदलते हुए समाज में बहुत से शब्द अनुपयोगी होने के कारण विस्मृत होते चले जाते हैं। ... आपत्ति की जा सकती है कि जो शब्द बदलते हुए जीवन और बदलते हुए समाज की आवश्यकता से बाहर पड गए हैं, उन्हें कला और साहित्य में बचाए रखने का क्या तर्क है। यहाँ अन्तर यही है कि भाषा वापरने की वैसी वस्तु नहीं जो आवश्यकता समाप्त हो जाने के बाद फिजूल पड जाती है। दैनंदिन ज़रूरतों में कम उपयोग के

---

1. अशोकवाजपेयी - कविता का गल्प, सं. 1997 - पृ. 18-19

बावजूद शब्द मनुष्य-समाज की प्रदीर्घ ऐतिहासिक यात्रा की दुर्लभ उपलब्धि है।”<sup>(1)</sup> अतः शब्द को बचाने की आकांक्षा मनुष्य की अर्थवत्ता को बनाए रखने की आकांक्षा से जुड़ी हुई है। हर हालात में रचना का बुनियादी कर्म मूल्यों को बचाए रखना है। अतः सांस्कृतिक गतिरोध के सन्दर्भ में सृजनशीलता भी चुनौतीपूर्ण हो जाती है। अपने काल की नब्ज़ को पकड़ने में, काल के परिप्रेक्ष्य में मनुष्य की सही स्थिति की अभिव्यक्ति को अवरुद्ध करने की साजिश चल रही है। आभासी वास्तविकताओं को रचकर भटकाने की कोशिश लगातार बल पकड़ रही है। इसी क्रम में शब्द अपारदर्शी हो रहे हैं। ऐसे में शब्द को बचाने का प्रयास भी कविता कर रही है। कविता में प्रत्येक शब्द अपना मूल्य पाते हैं। कविता की यही केन्द्रीय चिन्ता है कि अमानवीयता के दौर में मानवीयता को किस तरह बचाकर रख पायेगी। इसी चिन्ता के रहते मूल्यवाही शब्दों का एक प्रतिसंसार रचती है जहाँ मानवीयता की केन्द्रीय उपस्थिति होती है।

### लोक भाषा का विकल्प

शब्द को बचाने की, जो प्रकारान्तर से मूल्यों को बचाने की आकांक्षा बनती है इसी को लेकर कविता जातीय अन्वेषण की माँग कर रही है। विजेन्द्र के अनुसार “समकालीनता की समझ के लिए कवि को अपनी जातीय संस्कृति का मूल्यांकन परक ज्ञान बहुत आवश्यक है। आज सौन्दर्यशास्त्रीय प्रश्नाकुलता की पृष्ठभूमि में परम्परा और उसके पुर्नमूल्यांकन

---

1. आलोचना - अप्रैल-जून 2003, लोक में शब्द शीर्षक एकान्त श्रीवास्तव के लेख से - पृ. 50

की उत्सुकता छिपी है।”<sup>(1)</sup> कविता के सन्दर्भ में यह एक सार्थक विकल्प है। नव-औपनिवेशिक सांस्कृतिक हमले हमें जड विहीन बनाने की कोशिश में लगे हुए हैं। हमारी अपनी सांस्कृतिक पहचान को छीनते हुए, हमारे स्वत्व को विरूपित करते हुए हमें असुरक्षा की ओर धकेलने के प्रयास हो रहे हैं। ऐसा मूल्यहीन समाज पनप रहा है जहाँ मनुष्य बेहद असुरक्षित है। ऐसे में कविता का सौन्दर्यबोध, जिसके केन्द्र में मनुष्य की चिन्ता सबसे महत्वपूर्ण है, जातीय विरासत से जुड़ना चाहता है। परम्परा के सार्थक पक्षों का पुनर्मूल्यांकन आत्मपहचान के संकट से उबरने के लिए अनिवार्य है। इसी क्रम में कविता लोक से जुड़ रही है। लोकजीवन, लोक भाषा, लोकबोलियाँ आदि हमारी सांस्कृतिक पहचान हैं। हमारे जातीय स्वत्व की पहचान है। इसी अर्थ में भगवत रावत का कहना है कि “आज लोक की ज़रूरत ज़्यादा है क्योंकि लोकभाषाओं का क्षेत्र हमारे सांस्कृतिक जीवन का बहुत बड़ा और महत्वपूर्ण हिस्सा है। इसके बिना हम अपना सांस्कृतिक दृश्य पूरा नहीं कर सकते। यह काम लोक कविता ही कर सकती है बशर्ते वह अपने ही जन और उनकी संवेदनाओं से होकर उनकी उन अर्थछवियों तक जाए।”<sup>(2)</sup> बाज़ारवादी संस्कृति के औजार संचारमाध्यमों द्वारा रचित लोकप्रिय संस्कृति के बरक्स लोकसंस्कृति को कविता में दर्ज करने की आकांक्षा दरअसल प्रतिरोध से जुड़ी है। यह हमारी जातीय आत्मपहचान है। इस पहचान को विकृत करने के प्रयास आज हो रहे हैं। इधर लोक संस्कृति को व्यावसायिकता की चपेट में लाने की कोशिश हो रही है।

- 
1. कृति ओर - अंक-36 अप्रैल-जून 2005, कविता : सौन्दर्यशास्त्र पर कुछ नोट्स शीर्षक विजेन्द्र का लेख - पृ. 5
  2. भगवत रावत - कविता का दूसरा पाठ, प्र.सं. 1993 - पृ. 96

मीडिया द्वारा प्रायोजित जोर शोर में उनकी विकृति हो रही है। वह लोक को उनकी वास्तविकताओं से काटकर छद्म रचती है। आज इसे भी मुनाफे की चीज़ों में तब्दील करना बाज़ार का मन्त्र है। जैसे कि आदिवासियों को उनकी बुनियादी ज़रूरतों से वंचित रखकर जातीय संस्कृति को बचाने के बहाने उन्हें उनके आदिम रूपों में बनाए रखने की साजिश। उनकी आदिमता का अतिरिक्त प्रदर्शन हो रहा है। इसके बरक्स कविता में लोक अपनी पूरी अर्थवत्ता के साथ मौजूद है। यही लोक अपनी आस्था और जिजीविषा के तहत हमेशा सौन्दर्य के सृजन के लिए संघर्षरत रहते हैं। इन को केन्द्र में रखनेवाली लोककविता ही आज अवमूल्यन के खिलाफ खड़ी हो पायेगी। समकालीन कविता जातीय संस्कृति के प्रति आस्था को बनाए रखते हुए अपने में लोक का संसार गढ़ रही है। यह ऐसा मुकाम है जहां मूल्य सुरक्षित है। कविता की भाषायी संकट भी इससे जुड़ा हुआ है। नव-औपनिवेशिक विस्तार के क्रम में होने वाले भाषायी अवमूल्यन यानी शब्दों के नैतिक अर्थवत्ता के क्षरण की समस्या का हल भी लोक कविता से संभव है। क्योंकि शब्दों की अर्थवत्ता आज भी लोक में बरकरार है। अतः लोक भाषा भी कविता का विकल्प है। एकान्त श्रीवास्तव के अनुसार “अक्षर की पहचान, शब्दों की रचना, वाक्यों का गठन और इस तरह एक मुकम्मल भाषा और उसकी लिपि का निर्माण मनुष्य-समाज के प्रदीर्घ संघर्ष, अनुभव और अभ्यास का परिणाम है। भाषा का फूल जनता के बीच ही खिलता है। अपनी जनता से दूर होते ही वह मुरझाकर झड़ जाता है। किसी ज़माने में वैदिक संस्कृति और वर्तमान सन्दर्भ में राजभाषा इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। लोक की भूमि से ही यह फूल अपना जीवन रस ग्रहण करता है। यह

लोकभूमि भाषा का ही नहीं बल्कि उस भाषा में रचे जा रहे साहित्य का भी मूलाधार है। रचना की नब्ज जब डूबने लगती है, सांस जब उखडने लगती है तब लोक ही उसे ऑक्सीजन देकर पुनर्जीवन प्रदान करता है। सच्चा साहित्य अपनी प्रकृति में ही लोकधर्मी होता है। वह न लोकजीवन की अवहेलना कर सकता है न लोकभाषा की।”<sup>(1)</sup> कविता में लोकभाषा का प्रयोग जातीय स्वत्व की पहचान के लिए अनिवार्य है। कठिनताओं के बीच भी संघर्षशील रहने वाले कर्म के सौन्दर्य का परिचय देनेवाले लोक की जीवनदृष्टि की छापवाली भाषा का प्रयोग एक ओर वास्तविक जीवन संघर्षों से जुडने का रास्ता है तो दूसरी ओर प्रतिरोधी विकल्प को चुनना है।

### कविता की आख्यानात्मकता

कविता कई स्तरों पर हमारा विकल्प बन रही है। मानवीय संकट की जिस स्थिति से हम गुजर रहे हैं इसके पीछे सत्ताकेन्द्रों द्वारा अपने सांस्कृतिक विचारों को जिसे अपसंस्कृति कहना ज्यादा उचित है, बहुसंख्यकों पर थोपने का प्रयास ही कार्यरत है। अपनी ताकत के साथ वे अपसांस्कृतिक रूपों का भी इस्तेमाल कर रहे हैं। उनके ज़रिए मनुष्य की चेतना को अपने वश में रखने में सक्षम हो रहे हैं। भाषा को अधिक से अधिक व्यावहारिक बनाने की कोशिश हो रही है। इनके द्वारा छद्मबिम्ब पेश हो रहे हैं। ये ऐसे बिम्ब हैं जो हमारे विवेक पर हावी होना चाहते हैं। ऐसे में “मीडिया द्वारा रचे गए बिम्बों की प्रतिभाषा की तलाश भी एक हद तक कविता में देखी जा सकती है। कविता इस बीच ज्यादा आख्यानात्मक हुई है। लगभग

1. एकान्त श्रीवास्तव - कविता का आत्मपक्ष, प्र.सं. 2006 - पृ. 114

निरलंकृत उपाख्यान उसने रचे हैं। .... वह ~~अवकाश~~ ~~रचता~~ ' वह चीज़ों और स्थितियों के पास ले जाने के लिए एक ~~संवेदनात्मक~~ ~~ज्ञान~~ की पगडंडी बनाता चलता है। वह स्वयं बोलने के बजाय व्यक्त और वर्णित सच्चाइयों को अधिक से अधिक बोलने का अवसर देता है।"<sup>(1)</sup> कविता के आख्यानात्मक होने की ज़रूरत पर प्रकाश डाला गया है। सांस्कृतिक षडयन्त्रों के खिलाफ हमें संवेदनात्मक स्थिति में लाना आज कविता का लक्ष्य है। वर्तमान जटिल यथार्थ के सन्दर्भ में कविता अपनी आख्यानात्मकता में वह अवकाश रचती है ताकि हम सोच पाये। चेतना निर्माण का कार्य आज कविता कर रही है। यहाँ संवेदना के साथ विचार की अनिवार्यता भी दर्ज हुई है। मुक्तिबोध ने संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदन कहकर संवेदना और ज्ञान की पारस्परिकता पर बल दिया था। आज समकालीन कविता भी इसके प्रति सजग है। कविता की आख्यानात्मकता दूसरे सिरे पर उसकी सम्प्रेषणीयता का भी सवाल है। आज कविता जनतान्त्रिक होने के उपक्रम में लगी हुई है। उसकी जनतान्त्रिकता विषयभर में सीमित नहीं बल्कि अपने पूरे गठन में इसका प्रयास करती नज़र आती है। कविता की आख्यानात्मकता से जुड़ा हुआ अन्य मुद्दा है उसका गद्यात्मक होना। कविता की गद्यात्मकता भी अपने में एक विकल्प है। चन्द्रकान्त देवाताले ने लक्षित किया है कि "गैर कविताई या गद्यात्मक लगने में सच्चा दुःख करुणा और ईमादार संवेदनाओं का वेग इसी गद्यात्मकता के ठोसपन में है जो उन्हें सज्जात्मक और प्रथम-दृष्टया कविता लगती कविताओं से अलग करता है। यह भीतर

---

1. आलोचना - जन-मार्च 2003, कविता और पंडोरा की पेंटी से आती एक धीमी आवाज़ शीर्षक राजेश जोशी का लेख - पृ. 34



की, कवि के अन्तर्जगत की व्यग्रता, जीवन्तता और गहरी मानवीय प्रतिबद्धता ही है जो कविता का असली ताप रचती है।”<sup>(1)</sup> निरन्तर हास्यास्पद होते मनुष्य को केन्द्रीय चिन्ता बनानेवाली समकालीन कविता गद्य का रास्ता चुनती है तो उसके मूल में मनुष्य की मुक्ति की चिन्ता ही कार्यरत है। कवि की अपनी प्रतिबद्धता जो समस्याओं के घेराव में पडकर दमघुटने वाले मनुष्य को लेकर बेचैन है, गद्यात्मक कविता को गढ़ने के लिए बाध्य होती है। निराला ने कविता की मुक्ति और मनुष्य की मुक्ति को एकसाथ जोड़ते हुए ही कविता को गद्यात्मक बनाने का प्रयास किया था। मुक्त छन्द की कविता का पथ प्रशस्त करने के पीछे भी मनुष्य की मुक्ति की चिन्ता ही कार्यरत थी। समकालीन कवि ज्ञानेन्द्रपति आज फिर निराला के मुक्तछन्द की बात उठा रहे हैं कि “मुक्तछन्द कविता साधारण जन को गाहे बगाहे कविता पढ़ने या सुननेवाले पाठक या श्रोता को आज अचानक अविश्वसनीय क्यों लगने लगी है जबकि ‘युद्धरत आम आदमी’ की तरफदारी तो उसमें खूब है।... मुक्तछन्द केवल एक अभिव्यक्ति पद्धति या अभिव्यंजना प्रकार नहीं उसका प्राथमिक सम्बन्ध कवि के वेदन-तंत्र की शुद्धता से है, मुक्तचित्तता जिसका दूसरा नाम है। ...संघर्षरत जनता के साथ मुक्तछन्द की हार्दिकता किसी खास तरह की राजनीति के भ्रू-संकेतों पर मुनहसर नहीं, यह उसका स्वभाव है, बेशक उसकी मुक्तता का मूर्त्तन।”<sup>(2)</sup> मुक्तछन्द का सवाल सबसे पहले कवि के हृदय की मुक्तता या अत्मविस्तार

1. सं. अशोकवाजपेयी - बहुवचन, गद्यकविता के बहाने कुछ फुटकर बातें शीर्षक चन्द्रकान्त देवताले का लेख - पृ. 104

2. पहल-75, सित-अक्तू-नव 2003, मुक्तछन्द को आखिर क्या हुआ है शीर्षक ज्ञानेन्द्रपति का लेख - पृ. 152, 153

से सुडता है। जनता के मुक्ति संघर्ष से जुड़े कवि की नैतिक ईमानदारी पहली शर्त है जो कविता की रूढ़ियों को तोड़कर सृजन के अन्य धरातलों की तलाश करती रहती है। निराला के लिए मुक्तछन्द जनता की मुक्ति से जुड़ा हुआ मुद्दा है। इधर समकालीन कविता इसी अर्थ में निराला की परम्परा से जुड़ती है।

एक ओर कवि कविता-रचना में मग्न होता है। यह साधना इस अर्थ में है कि उसमें कवि का बृहत्तर समय समा गया है। उसमें से ही तपपूत कविता शब्द ढूँढ़ पाते हैं। अतः कविता पर रची गयी कविताएँ मात्र रचना प्रक्रिया को परिभाषित करने का कार्य नहीं कर रही है। कविता संबंधी कविताएँ समय के संत्रास को व्यक्त करती है।

दूसरी ओर कवियों की आलोचनाएँ कवि-कवि का एक प्रकार का विस्तार कार्यक्रम है। अपनी और अपने समकालीनों की कविताओं को विश्लेषित करने का कार्य ही वे यहीं कर रहे हैं। कवियों की आलोचना में उनकी कवि-दृष्टि की सघनता का बोध हमें होता है। आलोचना के व्यावहारिक पक्षों से परे जैसे भी प्रवृत्ति कवि-आलोचकों में होती है। अभीष्ट कविता संबंधी एक और दृष्टि ही कवि अपनी आलोचनों के बहाने उठाते हैं, कवि आलोचना वास्तव में कवि का सौंदर्य संबंधी विकल्प है।

इन दोनों प्रकार की रचनात्मकता में मानवीय संकट मूल में स्थिति है। मानवीय संकट की यह पहचान अन्यत्र भी उपलब्ध है। लेकिन समकालीन कविता में मानवीय संकट को गहराने का अनुभव सुलभ है। वह इसलिए है कि समकालीन कविता मानवीय संकट की कवितात्मक उपस्थिति है।

अध्याय - 4

समकालीन कविता में मनुष्य का बिम्ब

समकालीन कविता ऐसे सामाजिक परिप्रेक्ष्य में रचनाशील हो रही है जहाँ हर रोज़ मनुष्य के साथ विश्वासघात हो रहा है। आज की कविता जनतान्त्रिक व्यवस्था के निरन्तर खोखले साबित होने से उत्पन्न बहुसंख्यकों की विडम्बनाओं के प्रति जवाबदेह होने के उपक्रम में लगी हुई है। समकालीन कविता की यह पक्षधरता उसकी नैतिक ईमानदारी से उत्पन्न आन्तरिक बेचैनी की उपज है। अपने वर्तमान के छद्म को बेनकाब करते हुए वह आम आदमी के संघर्ष को केन्द्रीय चिन्ता बना रही है। समकालीन कविता अपने आप में लोकतान्त्रिक होने की मूलभूत बेचैनी की उपज है। राजेशजोशी के शब्दों में “आज की कविता अपने रचाव-बनाव में एक लोकतान्त्रिक कविता है। इसमें नायक नहीं है चरित है। आसपास के जीवन के साधारण लोगबाग। यह हमारे समय की विडम्बना है कि कविता जब अपनी संरचना और स्वभाव दोनों में सबसे अधिक लोकतान्त्रिक हुई है, राजनीति में लोकतान्त्रिक मूल्यों का सबसे ज्यादा क्षरण हुआ है। मुझे लगता है कि कविता का लोकतान्त्रिक होना अपने निहितार्थ में हमारी इच्छाओं और सपनों का आख्यान है। और अपनी राजनीतिक वास्तविकताओं का एक प्रति आख्यान भी।”<sup>(1)</sup>

---

1. राजेश जोशी - एक कवि की नोटबुक, प्र.सं. - पृ. 149

अपने समय की विडम्बनात्मक स्थितियों की अभिव्यक्ति में समकालीन कविता का स्वर गैर पारम्परिक है। अपने समय के प्रति वह अपनी पूरी सजगता बरत रही है। फिर भी पारम्परिक प्रकृति से हटकर। राजेश जोशी के ही शब्दों में “इस कविता में मुक्तिबोध, नागार्जुन, रघुवीर सहाय और धूमिल की कविता जैसी अति नाटकीयता नहीं है। एक किस्म का अण्डर प्ले है। मुझे लगता है कि जब वर्चस्व की शक्तियाँ स्वयं अतिनाटकीय होता उनके विद्रूप को उजागर करने के लिए आत्यन्तिक रूप से दूसरे छोर पर चले जाना ज़रूरी होता है। हमारी आज की कविता का अण्डर प्ले सत्ता विमर्श के अति और अक्सर आक्रामक रूप से नाटकीय होने के विपरीत है।”<sup>(1)</sup> आठवें दशक में आकर कविता के अन्दाज़ में काफी बदलाव नज़र आता है। कवि विजयकुमार की मान्यता है - “आज एक ओर यदि आज नागरिक के अमानवीकरण और शोषण की प्रक्रिया को बहुत ठोस, मूर्त और स्थानिक सन्दर्भों में पहचानने के प्रयास हो रहे हैं तो दूसरी ओर इस क्रूर सच्चाई को नियतिवाद के घेरे से निकालकर देखने की कोशिश मात्र एक भाववादी स्तर पर नहीं है। विचारों का भी एक भाववादी रूप हो सकता है जो किसी भी जटिलता में जाने से कतराता है यह बात आज के कवि ने बहुत अच्छी तरह से समझ ली है। इसलिए हम देखते हैं कि आज के कवि का मानवतावाद मात्र शोषित और दलित जनता के आदर्शाकरण में नहीं है बल्कि उससे आगे जाकर मनुष्य और मनुष्यों के बीच के उन ठोस जीवन्त रिश्तों की खोज में है जिसे शोषण व्यवस्था लगातार विरूपित

---

1. राजेश जोशी - एक कवि की नोटबुक - पृ. 149, 150

करती जाती है।”<sup>(1)</sup> अरविन्दाक्षन जी का मानना है कि “आज कविता की अदाकारी कर्म के रूप में है। वह न हथियार है न कोई साधन या माध्यम कवि कर्म से बढ़कर कविता कर्म आज अधिक प्रासंगिक है।”<sup>(2)</sup> जन साधारण को केन्द्र में रखकर वह उनकी साधारणता व उसमें घुसपैठ की कोशिश में लगी हुई असाधारणता या अमानवीयता की गहरी पडताल करती नज़र आती है। वह अपने समय की आन्तरिक बेचैनी को तफसील से पकड़ती है। आम आदमी के जीवन प्रसंगों को उसकी यथार्थता के विकराल सन्दर्भों सहित पेश करते हुए समकालीन कविता अपनी ईमानदारी और प्रतिबद्धता को जाहिर कर रही है। वैश्वीकरण के दौर में वह एक सांस्कृतिक विमर्श के रूप में रचनारत हो रही है।

### सामाजिक यथार्थ और मनुष्य

समाज का आर्थिक पक्ष ही जीवन को निर्धारित करता है। मानवीय संकट का जो नक्शा हमारे सामने है उसका एक आयाम आर्थिक संकट से जुड़ा हुआ है। सांस्कृतिक स्तर पर पडनेवाले असर को नज़र अन्दाज़ करते हुए ही यहाँ आर्थिक नीतियाँ लागू हो रही हैं। सामन्ती दौर से नव पूँजीवादी दौर तक के तमाम मोड वर्चस्व की स्थापना व उसके लिए ज़रूरी आर्थिक आधिपत्य के रहे हैं। अर्थ का केन्द्रीकरण और अधिकार का केन्द्रीकरण दोनों एक ही पहलू के दो आयाम हैं। लोकतान्त्रिक व्यवस्था की स्थापना के बावजूद नागरिक अपने नागरिक अधिकार, मानवीय गरिमा

1. विजयकुमार - कविता की संगत, दूसरी आवृत्ति 1996 - पृ. 17

2. डॉ. ए. अरविन्दाक्षन - कविता का थल और काल, प्र.सं. 2001 - पृ. 57

विकास की संभावनाएँ, सुरक्षा आदि से वंचित हैं। सत्ता के हस्तान्तरण मात्र से जनतन्त्र लगातार खोखला सिद्ध हो रहा है। सत्ता और पूँजीवाद का अवसरवादी गठजोड़ साम्राज्यवाद के खात्मे के साथ ध्वस्त नहीं हुआ था। अब नवसाम्राज्यवादी दौर है। भूमण्डलीकरण व उदारीकरण की वजह से पूरे विश्व को वैश्विक ग्राम में तब्दील करने का छद्म है। विकासशील देश मंडी बनते जा रहे हैं। उदारीकरण के नाम पर ऋण का मुक्त वितरण हो रहा है। दूसरी ओर मुक्त बाज़ार का रास्ता भी खुल गया है। विश्वबैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष, विश्व व्यापार संगठन आदि के निर्देशानुसार हमारी आर्थिक नीतियाँ व विकास की योजनाएं लागू हो रही हैं। सार्वजनिक संस्थाओं का निजीकरण हो रहा है। प्रौद्योगिकी विकास भी बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हित में है। प्रगति अवश्य हुई है। भूमंडलीकरण के संदर्भ में विकास सीमित वर्ग का हुआ है। साधारण जनता साधारण खेतिहर मजदूर आदि इन समाज विकासशील कार्यों से अलग है; उससे बाहर है।

### **विकास का छद्म और हास्यास्पद होता मनुष्य**

समकालीन कविता में उभरता मनुष्य का बिम्ब संघर्षरत मनुष्य का है। हाशिये पर जीने के लिए मजबूर मनुष्य को ही समकालीन कविता ने प्रमुखता दी है। चन्द्रकांत देवताले की उसके सपने 'कविता अर्थ के केन्द्रीकरण से उत्पन्न मानवीय विडम्बना को आम आदमी के सपने के बहाने सामने लाती है। काव्यवाचक और अभावग्रस्त औरत की बातचीत के रूप में कविता की बुनावट हुई है। 'कितना अचकचा जाता हूँ मैं जब वह सुनाती है अपने सपने' यहाँ सवाल उठता है कि क्या उस औसत औरत

का सपना अजीब था? इस प्रश्नचिह्न के पीछे से झाँकनेवाला यथार्थ आहत करनेवाला है क्योंकि वह औरत भारत की अस्सी प्रतिशत की आबादी के सर्वनाम के रूप में अपनी मामूली-सी आकांक्षाओं को सपने के रूप में पेश करती है। उसने सपने में 'आँगन में बैधी गाय देखी, दूध पीती हुई बच्चियों को देखा और मुर्सीबत में फँसे अपने दोस्त को सौ-सौ के कुछ नोट देते हुए पायी।' यह आकांक्षाएँ भारत की आम जनता की हैं जो किसान-मज़दूर के रूप में गरीबी से गुज़र रही है। भारतीय किसान भूमण्डलीकरण की विकास-योजनाओं से बाहर है। भारतीय कृषक अपनी बुनियादी ज़रूरतों से वंचित रखा जा रहा है। विकास की योजनाओं में भारतीय गाँव और उसके किसान मूल से उजड़ रहे हैं कि किसानों की आत्महत्याएँ आम बात बन गयी है। नव पूँजीवादी दौर में अमीर-गरीब फासला इतना भीषण है कि भरपेट खाना भी उन्हें मयस्सर होता नहीं। पुराने किसान महाजनी सभ्यता के गिरफ्त में थे तो आज नवपूँजावादी ठेकेदारों के चंगुल में है। कविता में मामूली सी लगनेवाली इच्छाएँ अभावग्रस्तता के संकेत हैं जो उसे कभी नसीब होती नहीं। यहाँ उल्लेखनीय है कि वह अपने सपने को सुनाते हुए बार-बार हँस रही है। वह अपने दर्द को हँसी से ढक रही है कि विकास का माखौल उडाती है।

*“उसके सपनों से अधिक खौफनाक होता है / उसका सपना सुनाना / इतना हँसते हुए इतना खुश / कोई कैसे कह सकता है उन सपनों की बाबत / जिनके पाँवों के निशान जीवन में / अभी कहीं नहीं है।”<sup>(1)</sup>*

---

1. चन्द्रकांत देवताले - उसके सपने, प्र.सं. 1997 - पृ. 91



बेचैनी, दर्द और हँसी के अन्तर्विरोधी व विसंगतिपूर्ण दो पाटों के बीच अटका हुआ औसत आदमी भारत की निरन्तर बढ़ती आर्थिक खाई की उपज है। कवि का कहना है कि 'एकान्त में सोच उसके सपनों का सनीमा, हँस पाता हूँ मैं भी कत्थई हँसी, किन्तु उसके जैसी कहाँ?' यह कवि की ईमानदारी को दर्शाने के लिए नहीं बल्कि स्थिति की भीषणता को अनावृत करने के लिए है।

सत्ता केन्द्रों के आर्थिक निर्णय के बाहर उपस्थित करोड़ों के सचमुच अजीब लगनेवाले सपने हमें सोचने के लिए बाध्य करते हैं। अरुण कमल की 'अपनी केवल धार' में संकलित 'पृथ्वी किसलिए घूमती रही' कविता भी अभाव और इच्छा के अन्तर्विरोध को बेपर्दा करती है -

*“जिन्हें कभी जीवन में मिला नहीं / सुख से भोजन दो जून / वे औरतें गाती हैं छप्पन व्यंजनों के गीत! / जिनके बच्चों ने खल्ली भी छुई / वे माताएं गाती हैं पढे-लिखे पण्डित दामादों के गीत / और जिन्होंने आज तक आँख भी खोली नहीं / वे गा रहे हैं सूर्य के महिमा गान!”<sup>(1)</sup>*

औरतें माँग रही हैं छप्पन व्यंजन, दो जून की रोटी, पढे-लिखे बेटे दामाद, अन्धकारमय ज़िन्दगी से मुक्ति। उनकी ये आशाएँ हज़ारों वर्षों बाद भी अधूरी हैं, आज भी उनकी सबसे बड़ी इच्छा भरपेट खाना है। हमारा इतिहास समाज के मेहनतकशों के हाशियाकरण का रहा है। सत्ता केन्द्रों की बर्बरता ने उन्हें हमेशा अभावग्रस्त रहने की अभिशप्तता में बन्द रखा। यह

---

1. अरुण कमल - अपनी केवल धार, प्र.सं. 1980 - पृ. 31

सामन्तीपन नवपूँजीवादी दौर में भी मौजूद है। इनकी दोहरी मार से आहत लोगों के अपने समय और आकांक्षा के बीच का द्वन्द्व समकालीन यथार्थ है। तंग आकर वे पूछती हैं कि 'पृथ्वी किसलिए घूमती रही तब इतने दिन?' इस एहसास के बावजूद भी वे असलियत को ढकी रहती हैं और गाती हैं प्रार्थनागीत। यही विडम्बना कविता की केन्द्रीय चिन्ता है।

पूँजी के उन्मुक्त प्रवाह व राजनीति की जनविरोधी विकासनीतियों के कारण मेहनतकश आम आदमी पहले से ज्यादा गरीब और बेरोज़गार होता जा रहा है। लोकतन्त्र में जनता की हिस्सेदारी में कटौती लाना सत्ताकेन्द्रों की सुविधा व सुरक्षा के लिए अनिवार्य है। अधिकार के विस्तार के क्रम में अवाम की जगह निरन्तर हड़प ली जा रही है और वे बेसहारा होते जा रहे हैं। राजेशजोशी की कविता 'थोड़ी सी जगह' आम-आदमी की थोड़ी-सी जगह की आकांक्षा पर केन्द्रित है। उन्हें पृथ्वी पर थोड़ी सी जगह चाहिए जिसमें 'अपने को समेटकर बैठ पाये, पाँवों को मोड़कर सो सकें यानी उन्हें छोटी सी जगह जितनी सूरज का अक्स घेरता है पानी में।' उतनी भी उन्हें मयस्सर होती नहीं। अधिकार केन्द्रीकरण के परिणामस्वरूप वे

*“सिर पर लकड़ी का गट्टर लिये / वे दौड़ रहे हैं प्लेंटफार्म पर /  
किसी बोगी के दरवाज़े में अपना गट्टर चढा / किसी भी कोने में  
सिकुडकर बैठे जाएँगे वे / चारों ओर हिकारत फेंकती तुम्हारी  
नज़रों के बीच / वे तलाश रहे हैं / एक छोटी सी जगह।”<sup>(1)</sup>*

---

1. राजेश जोशी - नेपथ्य में हँसी, प्र.सं. 1994 - पृ. 21

इन्हीं मेहनतकशों के हाथ धरती को उर्वर बनाते हैं। वे ही बचाते हैं 'आग को, पानी को, हवा को, आकाश को, धरती को बंजर बनाने से।' साम्राज्यवादी स्पर्धा के बीच मेहनतकशों के श्रम की लूट चल रही है। सरकार बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के लिए सस्ता श्रम मुहैया करने की जल्दी में है। दिलासा दिया जा रहा है कि उनके रोज़गार के मौके बढ़ेंगे। लेकिन वास्तविकता कुछ और है। हाशिये पर एक नामहीन ज़िन्दगी जीने की सच्चाई उनकी ऐतिहासिक निरन्तरता है जो आज बल पकड़ रही है। बिल्कुल सरल और सपाट लगनेवाले बयान के ज़रिए राजेशजोशी अस्सी प्रतिशत की आबादी की हताशा व मजबूरी को शब्दबद्ध करते हैं। 'उन्हें चाहिए बस उतनी ही जगह जितनी चाँदनी का अक्स घेरता है पानी में। 'इसी अतिरंजना में हमारे समय का पूरा तनाव समेटा हुआ है।

विष्णु खरे की कविता 'एक कम' भी नव औपनिवेशिक आर्थिक नीतियों के छद्म को सामने लाती है। एक ओर विकास की अन्तर्राष्ट्रीय योजनाएं दूसरी ओर भिखमंगों की फेहरिस्त लम्बी होती जा रही है। कविता अपनी व्यंग्यात्मकता में मौजूदा समय के अन्तर्विरोधों को अनावृत करती है।

*“अब जब आगे कोई हाथ फैलाता है / पच्चीस पैसे एक चाय या दो रोट्टी के लिए / तो जान लेता हूँ / मेरे सामने एक ईमानदार आदमी औरत या बच्चा खड़ा है / मानता हुआ कि हाँ मैं लाचार हूँ कंगाल या कोठी / या मैं भला चंगा हूँ और कामचोर और एक मामूली धोखेबाज / लेकिन पूरी तरह तुम्हारे संकोच लज्जा परेशानी / या गुस्से पर आश्रित / तुम्हारे सामने बिल्कुल नंगा निर्लज्ज और निराकांक्षा / मैंने अपने को हटा लिया है हर होड से /*

में तुम्हारा विरोधी, प्रतिद्वन्द्वी या हिस्सेदार नहीं / मुझे कुछ देकर  
या न देकर भी तुम / कम से कम एक आदमी से तो निश्चिन्त  
रह सकते हो।”<sup>(1)</sup>

अपने को विपन्न बनानेवाली छद्म सामाजिकता में अपने आपको  
हर होड से हटाया जा सकता है और निश्चित अनुभव किया जा सकता है।  
यह अनुभव एक ओर यथार्थ की विकरालता को सामने लाता है, साथ ही  
सत्ताकेन्द्रों के तामझाम के पोल को भी खोलता है। अपनी विडम्बना से  
तादाकार पाने की मजबूरी, हमारे समय की खास पहचान बनती जा रही है।  
हमारे सांस्कृतिक विकास की विद्रूपता साफ जाहिर होती है। यहाँ कुछ भी  
धुँधला नहीं है। माहौल इतना पारदर्शी हो गया है कि आम आदमी को  
इसका एहसास है कि निरन्तर अमानवीय होती स्थितियों से गुज़रने के लिए  
वह अभिशप्त है।

निम्नवर्ग लगातार अरक्षित माहौल में धकेले दिये जा रहे हैं। एक  
ओर विकास की अन्धाधुंध योजनाएँ दूसरी ओर अकाल और महामारी से  
त्रस्त नामहीन ज़िन्दगियाँ, इसके समान्तर एक दूसरी सच्चाई भी है, यथार्थ  
को यथास्थिति मानकर उससे कतराने की प्रवृत्ति और तीसरा यथार्थ है  
विरोध को दबाने की तानाशाही। ऐसे में सच्चाई को सामने लाने के लिए  
आज पागलपन अनिवार्य सा हो गया है। राजेशजोशी की ‘आठ लफंगे और  
पागल औरत का गीत’ कविता में पागल औरत की उपस्थिति अकारण नहीं  
है। कविता पागल औरत के बयान के ज़रिए असलियत को अनावृत करती

---

1. विष्णु खरे - सबकी आवाज़ के पर्दे में, प्र.सं. 1994 - पृ. 64

है। पागल और और आठ लफंगों की टोली सडक पर घूम रही हैं उसी क्रम में 'सडकों और आसमानों की नींद हराम हो जाती है।' असलियत के नंगा होने के क्रम में कारक बनी छद्म सामाजिकता में बेचैनी भी बल पकडती है। पागल औरत खुलकर कहती है कि 'यह शेयर बाज़ार के दलालों का समय है।' यह मनुष्य का नहीं बल्कि बाज़ार का समय है। मनुष्य को आंका जा रहा है बाज़ार की तराजू से। इन्हीं साम्राज्यवादी साजिशों से विपन्न बना दिए लोगों की हैसियत आवारा कुत्तों की रह जाती है। खुली सडक उनका घर बन जाता है। ऐसा परिदृश्य जुटाया गया है कि जनतन्त्र का अन्तर्विरोध साफ उभर आया है। एक निपट पागल औरत लफेगों का सहारा बनती है, न कोई काम धन्धा न कोई घरबार, फिर भी वह लफेगों में रोटी बाँटती है। इसी अतिरंजना में उनकी विडम्बना छिपी हुई है। नगण्यता की पीडा झेलनेवाले लफेगे हर रास्ते चलते को रोककर सवाल पूछते है कि 'बच्चों का होम वर्क कराया कि नहीं, पतंग लाये, किसी मैदान के कंकट पत्थर साफ किए; महीने का राशन ले आये कटोल की दूकान से; माँ की दवा लेने गये थे अस्पताल और पिता को खरीद कर लाये नया स्वेटर, ये बेतुक सवाल दरअसल हमारे समय के बेतुकपन को ही उजागर करते हैं। सवालियों को सुनकर पागल औरत का संतुलन बिगड जाता है। वह गुस्ते में आकर अपने सिर को ज़ोर से हिलाती है। लफेगों की टोली तब तक गीत गाती है और धीरे धीरे वह शान्त हो जाती है और वह गाती है

*"हत्यारों को ले जाए यम, दलालों को ले जाये पुलिस / बहो मेरी नदियों बहो / झरो पुरानी पत्तियों झरो मेरी नींद में / उगे नई कोंपलो उगो / लौट आओ प्यारी छायाओ लौट आओ / मेरे इन लफेगों को बैठने की जगह दो सोने की जगह दो।"*<sup>(1)</sup>

1. राजेश जोशी - नेपथ्य में हँसी, प्र.सं. 1994 - पृ. ३१

बिल्कुल अतार्किक लगने वाले परिदृश्य के सहारे कविता अर्थ के केन्द्रीकरण से उत्पन्न मानवीय संकट को बेनकाब करती है।

तीसरी दुनिया का कोई भी कोना आज साम्राज्यवादी जाल साजियों से मुक्त नहीं है। महानगरीय परिवेश में केन्द्रित होने की जो प्रवृत्ति समकालीन कविता में मिलती है वह अकारण नहीं है। हमारे समय के अन्तर्विरोधों को उसके निकृष्टतम रूप में उजागर करने की मुनासिब जगह वही है। हमारे महानगर औपनिवेशिक दबाव के दौर में ही विकसित हुए थे; अतः वहाँ असंतुलन दृष्टव्य है। औद्योगीकरण के बल पकड़ने के क्रम में गाँवों की आत्मनिर्भरता तबाह होती गयी। करोड़ों का गाँवों से नगर की ओर विस्थापन हुआ। महानगरों के चकाचौंध के समान्तर रूप में नालो के किनारों पर निम्नवर्ग की बस्तियाँ व उनकी अभावग्रस्त ज़िन्दगी चल रही है। शहर की कामकाजी सभ्यता के बीचोंबीच उसकी चमकदमक के बरक्स अपने गुज़ारे के लिए त्रस्त निम्नवर्गीय यथार्थ भी है। विजयकुमार की 'चाहे जिस शक्ल से' में संकलित 'रघु की चाय की दुकान' कविता बिल्कुल सरल लगनेवाली परिदृश्य में छिपी मानवीय त्रासदी को बेपर्दा करती है। मुट्ठीभर अभिजनों की सुविधाओं के अनुकूल सिद्ध होनेवाली भूमण्डलीय योजना के परिप्रेक्ष्य में रघू को अपनी चाय की दुकान के लिए हर रोज़ नयी जगह तलाशनी पडती है।

“बीस साल बाद वह आदमी / किसी और शहर में है लापता /  
हम बड़ी दुकान के कबाडखाने को देख / तीस साल पीछे लौटते  
हैं / जबकि दूसरे शहर में भी / एक बड़ी दुकान धीरे-धीरे सरक

रही होगी / सीढियों के नीचे की / तुम्हारी छोटी दुकान की तरफ।”<sup>(1)</sup>

हर रोज़ इसी विश्वासघात से गुज़रने के लिए ‘रग्घू’ बाध्य किये जा रहे हैं। अधिकार के वर्चस्व के फैलाव के क्रम में समाज में आम आदमी की जगह निरन्तर हड़प ली जा रही है।

कुमारअम्बुज की कविता ‘बाज़ार’ अन्यसन्दर्भ में आम आदमी की विडम्बना को सामने लाती है। बाज़ार का वह रूप अब नहीं रह गया है जहाँ औसत आदमी अपनी बुनियादी ज़रूरतों की चीज़ों के लिए एकत्रित हुआ करता था। अब बाज़ार के वर्चस्व के कारण सुखवाद पर केन्द्रित उपभोगवादी संस्कृति विस्तार पा रही है। बाज़ार ने ऐसा जाल बिछाया है कि जो मनुष्य में नयी महत्वाकांक्षा पैदा करके एक उपभोक्ता में तब्दील होने के लिए प्रेरित करता है। ऐसे बाज़ार में भारत का औसत आदमी कई सालों बाद एक रोमांच के साथ जाता है जहाँ हर एक उपभोक्ता के पसीने से लथपथ शरीर से ऐसा भाव टपक रहा था कि ‘अभी बहुत कुछ बचा है खरीदने के लिए।’ व्यस्त दूकानदार और ग्राहकों की भीड़ में उसका उत्साह पस्त हो जाता है कि उसे टोपी लेने के विचार को टालना पड़ता है। शहर के बनियों और अमीरों से भरी हुई दुकानों की व्यस्तता से हटकर एक दूसरा दृश्य भी है। सामान और खरीददारों से बाज़ार इस कदर दमक रहा था कि

---

1. विजयकुमार - चाहे जिस शक्ति से, प्र.सं. 1995 - पृ. 64

“दिन की आखिरी घड़ी में ग्राहक खोजता हुआ / एक कोने में बैठा वह चमार हास्यास्पद हो गया था / जो बार-बार अपने हाथ में घुमा रहा था पौलिश की डिब्बिया / और सस्ते बिस्किट-गोलियाँ बेचती उस बुढ़िया ने तो / समंटे ही लिया था अपना खोखा।”<sup>(1)</sup>

उपभोक्ता संस्कृति से लैस बाज़ार के पैरोकार मुट्ठीभर अभिजनों की महत्वाकांक्षा को जगाकर उपभोक्ता में बदलता है और दूसरी और बहुसंख्यक को अपनी रोटी के लिए तरसने की स्थिति पैदा करता है। एक ओर अपनी प्राथमिकताओं से वंचित मनुष्य और दूसरी ओर सामाजिक प्रतिष्ठा और बेहतर जीवन स्तर की लक्ष्यप्राप्ति की दौड़ में लगा हुआ मनुष्य। कुमार अम्बुज ने मौजूदा समय की भोगवादी संस्कृति के बीच निरन्तर हास्यास्पद सिद्ध होने वाले मनुष्य को केन्द्र में रखकर वैश्विक जालसाजियों की ओर संकेत किया है।

### राजनीतिक यथार्थ और मनुष्य

साम्राज्यवादी शासन के खात्मे के बाद लोकतान्त्रिक व्यवस्था की स्थापना के बावजूद हमारी राजनीति पर साम्राज्यवादी संस्कृति हावी है। आज भी हमारी देशी राजनीति जनविरोधी व राष्ट्रविरोधी रवैया अपना रही है। नेताओं के अपने इरादों व निजी स्वार्थों के रहते वे अपने दायित्वों के प्रति निस्संग होते जा रहे हैं।

### अधिकार का केन्द्रीकरण और नागरिक हक से वंचित मनुष्य

यथार्थ से कतराने की प्रवृत्ति आज शासकीय कमज़ोरी बनती जा रही है। मौकापरस्त राजनीति जनतान्त्रिक व्यवस्था में जनता की हिस्सेदारी

1. कुमार अम्बुज - कूरता, प्र.सं. 1996 - पृ. 27



को नज़रअन्दाज़ कर रही है। एक अधिदायकत्ववाले इतिहास से वह अपने को जोड़ रही है। सामन्तीय और साम्राज्यवादी चरित्र को जनतन्त्र में वह और भी पुख्ता बना रही है। जनतन्त्र के अपने अर्थ से अपदस्थ होने की त्रासदी से हम गुज़र रहे हैं। हमारे दौर की अन्दरूनी विडम्बनाओं के लिए खास तौर पर यही स्थिति जिम्मेदार है। देशी राजनीति भी पूरी तरह शोषण पर निर्भर है। हमारी राजनीति एक ऐसे व्यवस्था तन्त्र की पैरोकार है जहाँ आम आदमी निरन्तर हास्यास्पद साबित हो रहा है। नागरिक अधिकारों व मानवीय मूल्यों का हनन यहाँ आम बात है। अरुण कमल की कविता 'संविधान का अन्तिम संशोधन' हमारी राजनीति की बुनियादी प्रकृति की ओर संकेत करती है।

*“संसद के संयुक्त अधिवेशन ने ध्वनि मत से / संविधान का अन्तिम संशोधन पारित कर दिया / जिसके अनुसार अब से किसी भी सिक्के में / एक ही पहलू होगा / इसप्रकार सहस्रों वर्षों से चला आ रहा / अन्याय समाप्त हुआ।”<sup>(1)</sup>*

हर सिक्के के दो पहलू होते हैं। लेकिन इधर संविधान का अन्तिम संशोधन कि एक ही पहलू होगा। सत्ता का वर्चस्ववादी स्वभाव ही उभरता है कि वह संविधान से बहुमत को खारिज करने का प्रयास करती है। जनतान्त्रिक संविधान में निहित बहुमत की अवधारणा को खत्म करके वह अपने मत को दूसरों पर थोपना चाहती है। बहुमत की संभावना को नष्ट करना सत्ता की सुविधा व सुरक्षा के लिए अनिवार्य है। वह व्यवस्था को

---

1. अरुण कमल - नये इलाके में, प्र.सं. 1996 - पृ. 68

हमेशा अपरिवर्तनीय रखना चाहती है। अधिकार के बँटवारे की बुनियादी ज़रूरत को वह नकारती है। यहाँ सिक्के के एक ही पहलू की घोषणा अधिकार के केन्द्रीकरण के संदर्भ में नागरिक अधिकारों का हनन है। कविता में अन्तिम पंक्तियाँ कि 'इस प्रकार सहस्रों वर्षों से चला आ रहा अन्याय समाप्त हुआ।' यहाँ घोषणा है अन्याय की समाप्ति का। लेकिन वास्तविकता यह है कि बहुमत को खारिज करके न्याय की समाप्ति की घोषणा ही हुई थी। नव औपनिवेशित माहौल में यही विद्रूपता बल पकड रही है। 'सहस्रों वर्षों के अन्याय' की जड और भी मजबूत हो रही है। ऐसे में प्रत्येक नागरिक अपने हक से वंचित हो रहा है। बिल्कुल सरल सी लगनेवाली स्थिति का सहारा लेकर अरुण कमल समाज को सतहीपन के अन्दर मौजूद विद्रूपता का पील खोलते हैं।

### **अवसरवादी कठमुल्लेपन की राजनीति और मूल्यहीन होता मनुष्य**

अवसरवादी गठजोड की राजनीति के चलते देश को अधीन करने ज़रूरत नहीं है क्योंकि हम अधीन होते जा रहे हैं। तमाम प्रतिरोधों के बावजूद हम गुलाम बनते जा रहे हैं। हमारी आस्थाओं का यह विघटन आज सबसे अधिक विडम्बनात्मक है। दलों में बँटी राजनीति में आज कोई भी दल वैकल्पिक स्थिति में नहीं है। आज हमारे पास विचारधाराएँ हैं। इसके बावजूद भी अवसरवादी कठमुल्लेपन का अतिवाद अलग-अलग खेमों में बँटकर एक दूसरे पर कीचड़ उछालने के लिए तैयार खडा है। इसके तहत जनता की हैसियत वोटबैंक होने की यांत्रिकता तक सीमित है। कुमार विकल की कविता मुक्ति का दस्तावेज़ हमारे वर्तमान संकट का दस्तावेज़ है।

“मैं एक ऐसी व्यवस्था में जीता हूँ / जहाँ मुक्त ज़िन्दगी की तमाम  
संभावनाएँ / सफेद आतंक से भरी इमारतों के कोनों में / नन्हें  
खरगोशों की तरह दुबकी पडी हैं / और मुक्ति के लिए छटपटाता  
मेरा मन / वामपंथी राजनीति के तीन शिविरों में भटकता है /  
और हर शिविर से / मुक्ति का दस्तावेज़ लेकर लौटता है।”<sup>(1)</sup>

माक्सवाद पर आस्था रखनेवाली वामपंथी राजनीति भी आज खोखली सिद्ध हो रही है। माक्सवाद सर्वहारा की मुक्ति की आकांक्षा का दर्शन है। आवाम को एकजुट होकर संघर्ष के लिए प्रेरित करने वाला दर्शन है। समाजवादी समाज की स्थापना उसका लक्ष्य है। लेकिन आज सब कुछ निरर्थक साबित हो रहा है क्योंकि वह अलग-अलग शिविरों में बँटा हुआ है। किसानों और मज़दूरों में वर्गबोध पैदा करके उन्हें संगठित होने की प्रेरणा बनने के बजाय एक दलीय राजनीति की सारी कमज़ोरियों का परिचय देते हुए वे आपस में लड रहे हैं। एक दूसरे के विचार को कमतर दिखाने के प्रयास के तहत विचारधारा या दर्शन हास्यास्पद साबित हो रहा है। अलग अलग शिविरों में बँटने पर भी उनकी विचारधारा व उनका लक्ष्य एक ही है इसका एहसास या ऐसा संकल्प आज नहीं के बराबर है। कवि का कहना है कि ‘शिविर-दर-शिविर’ भटकने के बाद कुछ ऐसा हो गया है कि मुझसे मेरा बहुत कुछ खो गया है - ‘शब्दों के अर्थ चीज़ों के नाम, सम्बन्धों का बोध और अपनी पहचान भी।’ यह मामूली समस्या नहीं है। आज मेहनतकश वर्ग की स्थिति बहतर है। मानवीय अधिकार उनसे लगातार छीन लिये जा रहे हैं। मौजूदा समय उनके खिलाफ है। हालात यह

---

1. कुमार विकल - सम्पूर्ण कविताएँ, सं. 2000, पृ. 45

होने पर भी उनकी मुक्ति की आकांक्षा से प्रेरित हर एक संकल्पवान व्यक्ति की आस्था टूट रही है। वामपंथ में भी बुर्जुआ चरित्र नेताओं पर हावी है। सत्तार पाकर वे भी मेहनतकशों पर रोब जमाते हैं। खोमेबाज़ी में सीमित राजनीति के तहत 'हर आस्था गहरे संशय को जन्म देती है और नया विश्वास अनेकों डर जगाता है' और अन्तिम टिप्पणी है कि

*“संशय और छोटे-छोटे डरों के बीच जूझता मैं / जब कभी हताश हो जाता हूँ / तो न किसी शिविर की ओर दौड़ सकता हूँ / न ही किसी दस्तावेज़ में अर्थ भर सकता हूँ / अब तो अपने स्नायुतन्त्र में छटपटाहट ले / इस व्यवस्था पर / केवल एक क्रूर अट्टहास कर सकता हूँ।”<sup>(1)</sup>*

पूरी कविता में निराशावादी स्वर मुखर है। यह अकारण नहीं है 'मुक्त ज़िन्दगी की तमाम संभावनाओं की तबाही' आज हमारी वास्तविकता बनती जा रही है। ऐसा कहना ही ठीक होगा कि विकल्पों से कतराने की प्रवृत्ति या निस्संगता आज वामपंथी राजनीति का भी यथार्थ है। इसके परिणाम स्वरूप सर्वहारा की मुक्ति की समस्या भी नगण्य हो रही है। एक मूल्यहीन व्यवस्था में 'एक अट्टहास भर में' सीमित रहने की विवशता हमारे समय के खौफनाक यथार्थकी सहज परिणति है। इसमें मनुष्य के अवमूल्यन की सच्चाई साफ उभर आती है। तथा कथित वामपंथी राजनीति में भी नैतिकता का जो लोप हुआ है उसके लिए इससे बहतर उदाहरण मिलना कठिन है। समकालीन कविता की यह भी एक चिंता है।

---

1. कुमार विकल - संपूर्ण कविताएँ, सं. 2000 - पृ. 46

## राजनीति का मुखौटाधर्मी शक्ल और मनुष्य का यथार्थ

जनतन्त्र के मूल को उखाड़नेवाली मूल्यहीनता आज सत्ता पर पूरी तरह से हावी है। आवाम की नियति इसी मूल्यहीन व्यवस्था द्वारा निर्धारित हो रही है। मूल्यहीनता से जन्मी अराजकता हमारी न्यायसत्ता पर भी हावी है। कुँवरनारायण की कविता 'सफलता की कुंजी' सत्ता की नशा में बहरी हुई पूरी सामाजिक व्यवस्था पर व्यंग्य है। दो व्यक्ति खडे थे दोनों के हाथों में पिस्तौल थी। दोनों एक दूसरे पर नफरत से जल रहे थे। जब गोलियाँ चलती है तो 'मारा गया एक तीसरा जो वहाँ नहीं चाय की दुकान पर था, पकडा जाता है चौथा जो अपने मकान पर था, गवाही पर रगडा गया पाँचवाँ जिसे किसी छठवें ने फँसवा दिया था, सातवें की शिनाख्त हुई पर आठवें पर मुकदमा चलता है और उसके फलस्वरूप

*“सज़ा नवें को हुई / और जो दसवाँ बिल्कुल साफ छूटकर /  
एक ग्यारहवें के सामने गिडगिडाने लगा वह / उसकी मार्फत /  
एक नयी सफलता तक पहुँचने की कुंजी को / उंगलियों पर  
नचाने लगा।”<sup>(1)</sup>*

भारतेन्दु के नाटक 'अन्धेर नगरी' का वस्तुसन्दर्भ यहाँ मूर्त हुआ है। चौपट राजा की अन्धेर नगरी में बेगुनाह गोवर्द्धन अपराधी करार दिया जाता है। यहाँ भी मारनेवाला एक और सज़ा मिलती है किसी दूसरे को। कविता पूरे व्यवस्था तन्त्र को बेनकाब करती है जो मूर्खता का मुखौटा पहना हुआ है। राजा तानाशाह है। यहाँ शासकों की पूरी कार्यवाही अन्याय

---

1. कुँवर नारायण - कोई दूसरा नहीं, द्वि. सं. 2000 - पृ. 61

पर रिकी रहती है। यहाँ व्यंग्य प्रकारान्तर से विडम्बना की ओर संकेत करता है। चालकी पर पूरी तरह निर्भर रहते हुए नयी सफलता एक पहुँचने की इस कुंजी को उंगलियों पर नचानेवाली सत्ता के तहत बेगुनाहों पर अन्याय का सिलसिला कभी समाप्त नहीं होने वाला है। एक खूँखार चक्रव्यूह में 'गोवर्धनों' को ज़िन्दा रहने के लिए भागता रहना पडता है। समूची आम जनता की यह विडम्बना हमारे सांस्कृतिक विकास के खोखलेपन को अनावृत करती है।

### तानाशाही राजनीति और रौंदा जा रहा मनुष्य

एक ओर अवाम की ज़िन्दगी राजनीति द्वारा तय होती है। उन्हें एक और अपनी बुनियादी आकांक्षाओं और अधिकारों से वंचित किया जा रहा है तो दूसरी ओर उन्हें वश में रखने के लिए निरंकुशता का सहारा भी लिया जा रहा है। लोकतांत्रिक व्यवस्था के भीतर एक तानाशाही व्यवस्था पनप रही है। साम्राज्यवादियों की फासीवादी रवैये देशी राजनीति पर हावी है। अपनी माँगों को लेकर उभरनेवाले जनरोष को दबाने के लिए राजनीति फासीवाद का सहारा ले रही है। नवपूँजीवाद के पैरोकारों के साथ उसका गठबन्धन आज भी मज़बूत है। नाज़ायज़ मतलबी ताकतों के साथ गठजोड़ स्थापित करके वह जनविरोधी रूख अपना रही है। उदयप्रकाश की कविता 'चौथा शेर' तानाशाही राजनीति को अनावृत करती है। एक सवाल के साथ कविता की शुरुआत होती है कि 'अशोक स्तम्भ का चौथा शेर कहाँ है?' सवाल उठता है राजपथ पर खड़ी भीड़ में से। चार शेर वाले अशोक स्तम्भ को किसी भी दिशा से देखा जाय तीन शेर ही दिखायी देते हैं। पश्चिम की

भीड ने कहा इधर देखने पर तीन ही दिखते हैं पूर्व, दक्षिण और उत्तरवालों ने इसे दोहराया। यह सवाल और कही नहीं राजपथ पर पूछा गया वह भी इतिहास दिवस पर यानी आज़ादी की वर्षगांठपर। सवाल के गूँजने के साथ ही पूरे माहौल पर सन्नाटा छा जाता है कि वहाँ 'हवा रूक गयी थी, सूरज का पहिया थम गया था, पेड सुन्न खडे थे।' 'सवाल एक रहस्य की तरह आकाश में टंगा था।' प्रश्न पूछने पर माहौल में इतना कसाव क्यों है? वह भी आज़ादी के दिन पर। स्थितियाँ यहाँ तक सीमित नहीं है कि 'भीड के बीच से एक आदमी आगे बढ़ा और अशोकस्तम्भ के नीचे वाले सफेद चबूतरे पर खडा हो गया। इसका अगला दृश्य अखबार में मिलता है -

*“काले अक्षरों में छपी / खौफनाक खबरें थी / भरी पडी थी ऐसी  
खबरें / जिनमें मौत की / विषाक्त साँसे’ थी / रुदन थे सदियों  
पुराने।”<sup>(1)</sup>*

पूरी नाटकीयता के साथ प्रस्तुत दृश्य की परिणति त्रासदपूर्ण है। हमारे यहाँ प्रश्न पूछना मना है। जिसमें उसका साहस होता है वह अक्सर मारा जाता है। उपर्युक्त पंक्तियों में उल्लेखनीय है कि 'रुदन थे सदियों पुराने'। अभिव्यक्ति की स्वाधीनता को छीनने की तानाशाही आज की नहीं है। यह सदियों से जारी है। व्यवस्था हमेशा अपरिवर्तनशील रहना चाहती है। इस पर प्रश्न चिह्न लगाने वालों को मौत की घाट उतार दिया जाता है। सुकारात, गलीलियो, ब्रूनो सरीखे दार्शनिकों ने अपने समय में तब तक स्थापित धार्मिक मान्यताओं पर सवाल उठाया कि तीनों की निर्मम हत्या

---

1. उदयप्रकाश - अबूतर - कबूतर, प्र.सं. 2002 - पृ. 68, 69

हुई। प्रचलित मान्यताओं पर सन्देह प्रकट करना या असहमति दर्ज करना सत्ता का नंगा होना है। अतः तर्क करने की छूट वह कभी देगी नहीं। विरोध को वह कभी भी बर्दाश्त नहीं करेगी। वह हमेशा लोगों की चेतना को जड बनाये रखना चाहती है। यह अधिकार के केन्द्रीकरण का ही विस्तार है, सत्ता की तानाशाही का ही हिस्सा है। कविता में संकेत है कि 'बीस मारे गये कर्नाटक में, बिहार में तीस, बंगाल में चालीस, पंजाब में पचास; लोग मारे गये, लापता हुए, आत्महत्याएँ की, निकाले गये, छाँटे गये' आखिर लोग गायब हो गए। हमारे समय का यही आतंक है। अधिकार के वर्चस्व के रहते मौजूदा परिवेश लगातार मनुष्य विरोधी साबित हो रहा है। यह आतंकवादी इतिहास की निरन्तरता है।

### यथार्थ से कतराने की अनैतिकता

नवउपनिवेशवादी हमले केवल आर्थिक और राजनैतिक स्वायत्तता के क्षेत्र को नष्ट करने तक सीमित नहीं है। इस हमले का सबसे बड़ा खतरा सांस्कृतिक क्षेत्र पर पड़ता है। साम्राज्यवादियों की फासीवादी संस्कृति हमारे सत्ता केन्द्रों पर हावी है प्रकारान्तर से वह हमारी पूरी नागरिक चेतना पर भी हावी होना चाहती है। आदमी को आदमी के खिलाफ करते हुए मतलब साधने की साजिश एक ऐतिहासिक कार्यवाही है। आज के दौर में यह बर्बर संस्कृति आम नागरिक की चेतना पर हावी होकर उसके विवेक को, स्मृतियों को, नैतिकता को, आदमियत को पूरी तरह नष्ट करना चाहती है। एक अराजक माहौल को रचकर अपने पंजे को मजबूत करने के साम्राज्यवादी प्रयास के क्रम में यहाँ का औसत आदमी अपनी संवेदनशीलता



से हाथ धोने के लिए बाध्य होता जा रहा है। समकालीन कविता में सांस्कृतिक संकट का यह मसला अपनी पूरी विकरालता के साथ पेश हो रहा है।

वीरेनडंगवाल की कविता 'रामसिंह' उपर्युक्त सन्दर्भ में विचारणीय है। कविता के केन्द्र में रामसिंह पुलिस का अदना सिपाही है। रामसिंह भारत का वह औसत नागरिक है जो अपनी अभावग्रस्तता को दूर करने के लिए, रोज़गार की तलाश में बीहड प्रदेशों की ओर विस्थापित होने के लिए अभिशप्त हो रहा है। अब वह सिपाही फौज में शामिल है। 'ओस के टपकने की आवाज़, सूर्य के पत्ते की तरह काँपना, हवा में आसमान का फडफडाना, नालों का नदियों की तरह रंभाते हुए भागना, बर्फ के खिलाफ लोगों और पेड़ों का इकट्ठा होना, अच्छी खबर की तरह वसन्त का आना' इन तमाम सन्दर्भों के साथ रामसिंह का रिश्ता गहरा है। अपनी मिट्टी से लगाव व मनुष्य की संवेदनशीलता से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। लेकिन वर्तमान की आपाधघापी ने औसत आदमी को इनसे काटकर असंवेदनशीलता की खाई में धकेल दिया है। यहाँ रामसिंह सत्ताशाही सिपाहियों में एक है जिनको चमकदार जूतों, उन्हें चमकाने की पालिशों, खेलने के लिए बन्दूकों, औरत की नंगी तस्वीरों, भरपेट खाना व सस्ती शराब से वशीभूत करके गुमराह करने की कोशिश जारी है। भोगलिप्साओं में जकड़ी एक भावी पीढ़ी के निर्माण में लगी हुई वर्चस्वशाली संस्कृति उसे पाशवीय बना रही है।

*“पहले वे तुम्हें कायदे से बन्दूक पकड़ना सिखाते हैं / फिर एक पुतले के सामने खड़ा करते हैं / यह पुतला है रामसिंह, बदमाश*

पुतला / इसे गोली मार दो, इसे संगीन भोंक दो / उसके बाद वे तुम्हें आदमी के सामने खड़ा करते हैं / ये पुतले हैं रामसिंह, बदमाश पुतले / इन्हें गोली से मार दो, इन्हें संगीन भोंक दो।”<sup>(1)</sup>

संवेदनशील मनुष्य को यान्त्रिकता की ओर धकेलकर उनके इशारे पर चलनेवाली कठपुतलियों में तब्दील करने की साजिश आज अपने विकराल रूप में हमारे सामने है। कविता की आखिरी पंक्तियाँ कि

“कहाँ की होती है वह मिट्टी / जो हर रोज़ साफ करने के बावजूद / तुम्हारे भारी बूटों के तलवों में चिपक जाती है? / कौन होते हैं वे लोग जो जब मरते हैं / तो उस वक्त भी नफरत से आँख उठा कर तुम्हें देखते हैं?”<sup>(2)</sup>

यहीं पर साम्राज्यवादियों की तमाम साजिशें खुलती है। विश्वनाथ प्रसाद तिवारी की ‘सैनिक’ कविता भी उल्लेखनीय है। इसमें भी फौज में शामिल नागरिक है। उसका बयान है कि उन्होंने हमारे हाथों में थमा बन्दूकें, सिरपर हेलमेट और पैरों पर बूट।’ यह दरअसल उसके षडयन्त्र कविता में अमानवीयता की पर्त खुलती है

“मैं बरसाता हूँ गोलियाँ / धुआँधार / वे गिरते हैं / वे छटपटाते हैं / मैं उनमें से किसी को नहीं पहचानता।”<sup>(3)</sup>

वीरेनडंगवाल की कविता के रामसिंह को मरते वक्त भी नफरत से देखनेवाली आँखें किसकी है? और यहाँ ‘सैनिक’ के हाथों गिरने-छटपटाने

- 
1. वीरेन डंगवाल - इसी दुनिया में, सं. 1980 - पृ. 19
  2. वहीं
  3. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी - आखर अनन्त, प्र.सं. 1991 - पृ. 63

वाले 'वे' कौन है? यहीं पर एक खौफनाक सच्चाई नंगा होती है। रामसिंह के भारी बूटों के तलवों में चिपकी मिट्टी अपने ही मुल्क की है और 'नफरत की आँखें' व 'वे' अपने ही मुल्क के अपने ही भाई हैं। मनुष्य को ही मनुष्य को मारने के औजारों में तब्दील करने की साजिश मामूली समस्या नहीं है। यहीं पर सांस्कृतिक माहौल को, मूल्यनिर्भर परिवेश को उलटकर अराजक बनाने की कोशिश सफल हो पाती है। अपने अधिकार के दायरे को विस्तार देने के लिए अपनों को आपस में बेपहचान बनाते हुए अपना उल्लू सीधा करने का षडयन्त्र रचा जा रहा है।

*“मुझे बताया गया है / वे मेरे दुश्मन है / और जिसके लिए लड  
रहा हूँ मैं / वही मेरा देश है।”<sup>(1)</sup>*

देश के नागरिकों को अपनी राष्ट्रीय चेतना से काटकर, अपनी नैतिकता, राष्ट्रीय आदर्श, व मूल्यों से काटकर महज सैनिक बनाए जाने का प्रयास आज बल पकड रहा है। चन्द्रकान्त देवताले की कविता 'वर्दी' भी इस तथ्य को सामने लाती है। पेट की समस्यावश पहनना पडता है वर्दी प्रकारान्तर से 'चस्पा हो जाती है तरह-तरह की नैतिकताएँ, कर्तव्य-देश-शब्द-व्यवस्था की विस्मयकारी कथाएँ।' वर्दी पहनने का कार्य सामान्य क्रिया नहीं है। क्योंकि प्रकारान्तर से वह आदमी के शरीर का हिस्सा बन जाती है। उसकी इज्जत-पहचान उसी से होने लगती है। अपनी जमात से अलग उसकी अपनी दुनिया बनती है। मनुष्य को मनुष्य से काटने तक वर्दी

---

1. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी - आखर अनन्त, प्र.सं. 1991 - पृ. 63

की कार्यवाही सीमित नहीं है बल्कि उसकी पूरी चेतना भी वर्दी द्वारा निर्धारित होने लगती है।

“आदमी के भीतर का मुलायम हिस्सा / सोखने लगती है आत्मा  
पर से बहता झरना / वर्दी वालों की बीवियाँ ढूँढने लगती है अपने  
पति / बच्चे खोजते हैं अपने पिता और वे वर्दी को टटोलते रहते  
हैं / खुद वर्दीवाला पूछता है अपने से आइने में एक दिन / कहा  
गया वह लडका जो बीस साल पहले गुनगुनाना था।”<sup>(1)</sup>

आदमी को अपनी आदमियत से काटते हुए व्यक्तिवाद को, जो अधिनायकत्व का स्वभाव है, प्रश्रय देने का षडयन्त्र आज जटिल हो रहा है। इसमें शिकार होने वालों की बची हुई नैतिकता अगर छटपटाती है तो भी वह हास्यास्पद हो जाती है। मानवीयता का यही क्षरण आज हमारी संस्कृति की सबसे बड़ी चुनौती है।

नवउपनिवेशवादी दौर में नागरिक बोध पर हमले के लिए बाज़ार का जाल बिछाया गया है। नैतिकता और तर्क करने की विवेकशीलता को तोड़कर, मानवीयमूल्यों और दायित्वों से काटकर उपभोक्ता में तब्दील करने की कोशिश दरअसल प्रतिरोधी संभावनाओं को नष्ट करने का ही षडयन्त्र है। एक झुंड संस्कृति पनप रही है जो मानवीय मूल्यों पर आधारित राष्ट्रीयता जैसे आदर्शों से अलग हो रही है। बाज़ार की राजनीति का ही

---

1. चन्द्रकांत देवताले - पत्थर की बेंच, प्र.सं. 1996 - पृ. 83

असर है कि हमारा प्रत्येक नागरिक मन समझौतावादी बन गया है। यथार्थ से मुँह मोड़नेवाली प्रवृत्ति उनकी आम प्रकृति बनती जा रही है। हमारे नागरिकों के सामने एक ही सवाल है की जो भी हो हमें क्या? दूसरों की परवाह किये बिना अपने आप में सीमित रहने की आदत पुख्ता हो रही है। आदमी के लिए दूसरा मूल्यहीन नज़र आ रहा है। कुमार अम्बुज की कविता 'नागरिक पराभव' 'क्रूरता' में संकलित है, की शुरुआती पंक्तियाँ है कि

*“उससे डरता हूँ जो अत्यन्त विनम्र है / कोई भी घटना जिसे  
क्रोधित नहीं करती / बात-बात में ईश्वर को याद करता है जो /  
बहुत डरता हूँ अति धार्मिक आदमी से।”<sup>(1)</sup>*

वर्तमान दौर में अमानवीयता ने अपने बहुआयामी रूपों में समय को घेर लिया है। मनुष्य को नष्ट करने की तमाम कोशिशें जारी है। ऐसे में अतिधार्मिकता व अति विनम्रता को किस कदर स्वीकृत दे पायेंगे यह अहम सवाल है। क्योंकि इन्हीं के रहते कोई भी घटना क्रोधित नहीं करती। यह सबसे खतरनाक स्थिति है। परसाई जीने अपने एक निबन्ध में कहा है कि सामाजिक बुराइयों की समाप्ति के लिए क्रोध अनिवार्य है। मनुष्य विरोधी समय में क्रोध और घृणा भी मानवीय मूल्य साबित होते है जब मानवीयता उनका लक्ष्य हो। इस अतिधार्मिकता के रहते 'अगले दिन की बर्बरता में जो मारा जाएगा उसे प्यार करने की आकांक्षा; एक बच्ची की अबोध चंचलता से चिन्तन होना, एक नागरिक होने के नाते आसपास के कार्यालयों में चाय देनेवाले लडके को नागरिक की तरह देखने के आग्रह

---

1. कुमार अम्बुज - क्रूरता, सं. 1996 - पृ. 11

आखिर हास्यास्पद हो जाते हैं। यहाँ अन्तर्विरोध यही है कि सच्चाई से वाकिफ होने पर भी या एक-एक पुरजे को ठीक करने की इच्छा के बावजूद भी बहाना खोज निकालने की आदत सी पड गयी है। निस्संगता हर बार पुखाते हो रही है। खुलकर विरोध करने का साहस टूट जाता है। यह अकारण नहीं है कि वहाँ प्रतिष्ठा व सामाजिक हैसियत मुख्य चिन्ता बन रही है। इसकी सहज परिणति कि

“अब मैं एक छोटी-सी समस्या को भी / एक बहुत डरे हुए नागरिक की तरह देखता हूँ / सबको ठीक करना मेरा काम नहीं सोचते हुए / एक चुप नागरिक की तरह हर गलत काम में शरीक होता हूँ / अपने से छोटों को देखता हूँ हिकारत से / डिप्टी कलक्टर को आता देख कुर्सी से खडा हो जाता हूँ / पडोसी के दुःख को मानता हूँ पडोस का दुःख / और एक दिन पिता बीमार होते हैं तो सोचता हूँ / अब पिता की उमर हो गयी है।”<sup>(1)</sup>

यहाँ भी एक अन्तर्विरोध जाहिर है कि ‘छोटी-सी समस्या को भी डरे हुए आदमी की तरह देखना तो दूसरी ओर अपने से छोटों को हिकारत से देखना।’ पहले में अपनी सुरक्षा और दूसरे में अपने से छोटों पर रोब जमाने की आत्मतुष्टि। इसी में सारा छद्म नंगा हो जाता है। अपने निजी स्वार्थों के रहते अधिकार की संस्कृति में शामिल होना और उसकी सहज परिणति कि

---

1. कुमार अम्बुज - क्रूरता, सं. 1996 - पृ. 12

“एक बच्ची को देखता हूँ / प्लास्टिक की गुड़िया की तरह / जैसे  
चाय बाँटते बहुत छोटे बच्चों को / नौकर की तरह।”<sup>(1)</sup>

यह रहा नागरिक पराभव जो वर्तमान की विडम्बना है प्रकारान्तर से हमारी चुनौती भी। नवऔपनिवेशिक दौर में हर एक नागरिक दौड़ में शामिल है। विशाल अन्तहीन भीड़ में शामिल होकर हर एक आदमी दौड़ रहा है ऐसे में नैतिक क्षरण को अनदेखा किया जा रहा है।

### साम्प्रदायिक राजनीति और मनुष्य का यथार्थ

वर्तमान दौर की मानवीय त्रासदी से जुड़ा हुआ अन्य पहलू है धर्म और राजनीति की अवसरवादी साझेदारी। धर्म के राजनैतिक इस्तेमाल के साथ वह अपने अर्थ से अपदस्थ हुआ। उसका मानवीय दायरा सिमट गया। धर्म और नैतिकता के बीच दरार पड गई। इतिहास के कई मोड़ों में धर्म को मनुष्य के खिलाफ का औजार बनाया गया। भारत की समावेशी संस्कृति को भूलकर कई बार धर्म के नाम पर मनुष्य की हत्याएँ हुईं। हमारे यहाँ के धार्मिक तनाव का फायदा उठाकर साम्राज्यवादियों ने अपने मतलब साधने का प्रयास किया। विभाजन उसका एक उदाहरण है। विभाजन ने भारतीय जीवन को कई स्तरों पर बुरी तरह प्रभावित किया। बर्बरता मनुष्य पर हावी हो गयी कि परिणामस्वरूप मनुष्य की ज़िन्दगी बेहद अरक्षित हो गयी। सामाजिक, सांस्कृतिक व आर्थिक स्तरों पर विभाजन का असर काफी दर्दनाक था। आगजनी, लूट, हत्या, बलात्कार के शिकार होने के

---

1. कुमार अम्बूज - क़रता, सं. 1996 - पृ. 12

साथ ही बहुतों को शरणार्थी भी होना पड़ा। एक ओर विस्थापन ने लोगों को अपनी ज़मीन से अलग कर दिया तो दूसरी ओर बेरोज़गारी की समस्या भी विकराल हुई। मनुष्य की धर्मान्धता विभाजन के बाद ढीला होने की जगह तीव्र हुई। धर्म और राजनीति की साझेदारी आज तीव्रतम स्थिति में हैं। धर्म का उग्रराजनीतिकरण हो रहा है। धर्म शोर में तब्दील हो रहा है। साम्प्रदायिक दंगों का सिलसिला जारी है।

### वतन से विस्थापन की पीडा

अरुणकमल की कविता 'यात्रा' विस्थापन की त्रासदी को सामने लाती है। कविता में साम्प्रदायिक दंगों का सीधा ज़िक्र नहीं है। इसके शिकार बने लोगों की त्रासदी को कविता अनावृत करती है। बंटवारे के दौरान हुए साम्प्रदायिक दंगों का सबसे बुरा असर पूर्वी व पश्चिमी पंजाब पर पड़ा। मनुष्य की बर्बरता की दिल दहलाने वाली सच्चाइयों का बयान पंजाब ही पेश कर सकता है। पंजाब मेल दौड़ती जा रही है पश्चिम से पूरब की ओर। उसमें जालन्धर का एक मज़दूर निहालसिंह और उसके साथी हैं जो पश्चिम बंगाल के मारवाडियों की लोह-जूट की मिल में रोज़गार पाने की आकांक्षा में हैं। कविता में संकेत है कि -

“कलकत्ते के कारखाने में बहाल / जालन्धर का एक मज़दूर /  
जा रहा है वापस काम पर / छूट गया है मुल्क बहुत दूर / बस  
तलुवों में बाकी है / थोड़ी सी धूल पंजाब की।”<sup>(1)</sup>

---

1. अरुण कमल - अपनी केवल धार, सं. 1980 - पृ. 12



अपने चेहरे पर अनगिनत रहस्यों के लिए हुए अपनी ज़मीन को छोड़कर रातों रात वे भाग रहे हैं। जिस रफ्तार से पंजाब मेल आगे बढ़ती जा रही है उसी रफ्तार से उसका मुल्क भी पीछे छूटता जा रहा है। चेहरे में अनगिनत व्यथा और मन में यादों के अलावा उनके तलुवों में पंजाब की थोड़ी सी धूल बाकी है। हर मनुष्य के सन्दर्भ में अपने वतन के साथ सरोकार गहरा होता है। विभाजन और दंगे की सबसे बड़ी त्रासदी अपनी ज़मीन से विस्थापन था। आज भी यह जारी है। धर्म और राजनैतिक स्वार्थ जब मूल्यवान होते हैं तो मनुष्य का ही अवमूल्यन होता है। अपने ही वतन में दहशत और असुरक्षा के घेरे में आकर उन्हें भागना पड रहा है। कविता में निहाल सिंह से प्रश्न कि

*“पंजाब तो बहुत खुशहाल हे, निहालसिंह? / सुनते हैं लोग वहाँ दूध और मट्ठे के तर हैं, / निहालसिंह? / फिर तुम क्यों जाते हो पश्चिम बंगाल, बोलो निहालसिंह?”<sup>(1)</sup>*

यह सबसे दर्दनाक सवाल है। अपनी ज़मीन ज़ायदाद को छोड़कर भागने की अभिशप्तता सामान्य नहीं है। एक और विडम्बनात्मक स्थिति यह है कि निहालसिंह सरीखे किसान-मज़दूरों को ऐसी विवशता क्यों झेलनी पडती है। स्थानान्तरण से जुड़ी अन्य समस्या है अपनी ज़मीन से अलग नयी ज़मीन में टिकने की आशंका इस आशंका के रहते भी दिलासा देना पडता है कि

---

1. अरुण कमल - अपनी केवल धार, सं. 1980 - पृ. 12

“कौन नहीं चाहता जहाँ जिस ज़मीन में उगे / मिट्टी बन जाए  
वहीं / पर दोमट नहीं, तपता हुआ रेत ही है घर / तरबूज का /  
जहाँ निभे ज़िन्दगी वही घर वही गाँव।”<sup>(1)</sup>

अक्सर शरणार्थियों के साथ समाज का व्यवहार उपेक्षापूर्ण रहता है। समाज की निस्संगता के घेरे में आकर बेरोज़गारी और भूख की समस्या से भी उन्हें समझौता करना पड़ता है। एक अनजानी आशंका, असुरक्षा व दहशत की स्थिति में भी जीवन जीने की विडम्बना।

“कोई नहीं जानता कब बन्द हो जाएँगी कौन सी मिलें / किनकी  
होगी छँटनी, किनकी करेंगी तनखाहें / सब रह गये घर पर दो एक  
दिन फाजिल।”<sup>(2)</sup>

आतंक और दहशत के मारे भागने वाले मज़दूरों को दोहरी मार झेलनी पड़ती है जो एक दर्दनाक दास्तान साबित होता है। धर्म और राजनीति के अवसरवादी कठमुल्लेपन के तहत मनुष्य का दर्द हास्यास्पद हो रही है। अपने ही मुल्क में शरणार्थी बनने के लिए उन्हें बाध्य किया जा रहा है। एक ज़मीन से दूसरी ज़मीन की ओर भागते रहने की अभिशप्तता का इतिहास दोहराया जा रहा है। अरुणकमल इसी आशंका को इतिहास और वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में केन्द्रीय चिन्ता बनाते हैं।

### इन्सानियत का गला घोटता सांप्रदायिक राष्ट्रवाद

धर्म की स्वीकृति मनुष्य की भलाई के लिए हुई थी। प्रत्येक धर्म इसका दावा भी करता है। धर्म निरपेक्षता का नारा बार-बार बुलन्द किया

1. अरुण कमल - अपनी केवल धार, सं. 1980 - पृ. 13

2. वहीं

जाता है। लेकिन वास्तविकता कुछ और है। मनुष्य की मानवीयता पर ज़ोर देनेवाले धर्म के नाम पर आखिर मनुष्य को अमानवीय बनाया जा रहा है। मनुष्य पर साम्प्रदायिक मनोवृत्ति पैदा कर अपना मतलब साधने का प्रयास हो रहा है। नव उपनिवेशवादी दौर में धर्म और राजनीति का गठबन्धन तीव्रतम बिन्दु में है। इधर सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के छद्म का उभार भी हुआ है जो फासीवाद का प्रतिरूप है। कट्टरवादी धर्म, राष्ट्र और संस्कृति को एक साथ उलझाना चाहते हैं। भारत को हिन्दू राष्ट्र में तब्दील करके भारत की समावेशी संस्कृति को तोड़ रहे हैं। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की आड़ में उग्रहिन्दुत्व को प्रोत्साहन देकर साम्प्रदायिक राष्ट्र में बदलने का प्रयास ज़ोरों पर है। इस प्रकार धर्म एक उन्माद बनता जा रहा है इसी क्रम में मनुष्य का निरन्तर अवमूल्यन हो रहा है। अरुण कमल की कविता 'युद्ध क्षेत्र' बिहार के जातीय दंगों के परिप्रेक्ष्य में रची गयी है। मनुष्य को आँकड़ों में तब्दील करनेवाली अराजक मनोवृत्ति को कविता अनावृत करती है

*“गिनो / गिनती सीखो बच्चो / गिनो / पोस्टमार्टम हाउस से  
निकली / कितनी लाशों / एक दो, नौ दस... कितनी लाशों?”<sup>(1)</sup>*

बच्चों से कहा जा रहा है कि लाशों को गिनकर गिनती सीखो क्योंकि आदमियों से ज्यादा लाशें हैं। हत्याकांड की भयाहता के साथ ही साथ मनुष्य की असवेदनशीलता, निस्संगता व प्रतिक्रियाविहीनता भी एक और आतंक की ओर संकेत करती हैं। यहाँ लाशों की गिनती हो रही है कि

---

1. अरुण कमल - सबूत, दू. सं. 1999 - पृ. 33

“मारे गये दस जन / यदुवंशी थे? / वामन थे? / छत्रि थे / नहीं मालूम। / मारे गये दस जन।”<sup>(1)</sup>

खून का हिसाब हो रहा है जाति, नस्ल और धर्म के नाम पर। भारत की बहुलतावादी संस्कृति को तोड़कर उसे रूढ़िवादी बनाने का हरसंभव प्रयास हो रहा है। यहाँ की मूल जाति आर्य है या द्रविड इस पर अब भी बहस चल रही है जबकि अन्तिम धारणा बनाना नामुमकिन है। उसी प्रकार हिन्दू मुसलमान विवाद को भी प्रश्रय दिया जा रहा है। इस पर भी अन्तिम धारणा कहाँ तक संभव हो पायेगी, इस सच्चाई से वाकिफ होकर भी अलगाववादी हिंसा जाति, धर्म व नस्ल के नाम पर तेज़ है। अपने मतलब साधने की साजिश के तहत आदमी उनकी नज़र में कुत्तों से भी बदतर साबित होते हैं। दंगों के बाद की अमानवीयता राजनैतिक विद्रूपता का एक शर्मनाक मिसाल है-

“फेंका है उन्होंने रोटी का टुकड़ा / और टूट पड़े गली के भूखे कुत्ते / एक दूसरे की गर्दनों पर दाँत पजाते- / एक टुकड़ा रोटी / और लाखों भुखड।”<sup>(2)</sup>

दंगों को भटकाकर लोगों को बेसहारा और सडकों पर आवारा बनने के लिए मजबूर करनेवाले उनकी भूख का भी फायदा उठाकर आपस में लडवाते हैं। माहौल की दहशत के कारण लोग एक दूसरे के मुसीबतों को नज़रअन्दाज़ करते हैं। दूसरों की परवाह किए बिना खतरे से बचने की

---

1. अरुण कमल - सबूत, दू. सं. 1999 - पृ. 33

2. वहीं - पृ. 34

बदहवासी में उनकी संवेदनशीलता भी मर जाती है। शरणार्थी शिबिरों में रोटी के लिए कुत्तों के समान एक दूसरे पर झपटने के लिए मजबूर बना देनेवाली स्थिति काफी दर्दनाक है। भूख मिटाने की जल्दी में संवेदनशीलता से हाथ धो बैठने की अभिशप्तता से पीड़ित लोग और नेपथ्य में मुफ्त में मिले युद्धक्षेत्र में ढोल बजानेवाले सत्ताधीशों का वहशीपन, एकता और धर्मनिरपेक्षता के ज़ोरदार के नारों के बावजूद सच यही है।

### स्त्री का यथार्थ

मानवीय अवमूल्यन का सबसे प्रबल पक्ष है स्त्री शोषण। पुरुष वर्चस्ववादी व्यवस्था में प्रारंभ से लेकर स्त्री को दूसरे नागरिक का दर्जा ही प्राप्त है। कहा जाता है कि वैदिक काल में स्त्री को बराबरी का हक मिला था। जबसे सामन्ती दौर शुरु हुआ यानी पितृसत्तात्मक व्यवस्था की स्थापना के बाद स्त्री के सहचरी रूप को तोड़कर पराधीन बनाया गया। दायम दर्जे में सीमित रखने तक कार्य समाप्त नहीं होता बल्कि शोषण और प्रताड़ना के ज़रिए उसे हमेशा गुलाम बनाये रखने की साजिश रची गयी। मनु, कौटिल्य व शंकराचार्य तक के प्राचीन आचार्यों ने स्त्री का रूप गढ़ा कि 'वह कभी गवाह बनने के काबिल नहीं, वह नर्क का द्वार है, पुरुषों को दूषित करनेवाली है, सैकड़ों उपवास व्रत लेने पर भी वह पवित्र नहीं हो सकती, पति के चरण धोकर पीने मात्र से वह पवित्र हो सकती है'। सामन्ती समाज में स्त्री का दर्ज मात्र भोग की वस्तु में सीमित था। पूँजीवादी दौर में भी पुरुषों के मुकाबले अतिरिक्त श्रमशोषण, उत्पीड़न एवं यौन शोषण का शिकार रही। पूँजीवादी दौर में स्त्रियों को घर के सीमित दायरे से आंशिक

मुक्ति ज़रूर मिली। फिर भी उसका दर्जा दूसरे नागरिक का ही रहा। राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन में नारी चेतना का निर्माण एवं विकास हुआ। भारतीय जनतन्त्र में स्त्रियों को बराबरी का दर्जा मिला भी लेकिन आंशिक तौर पर। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद के समाज में घर की चार दीवारी से बाहर ज़रूर आ पायी है। नतीजतन बाहर में भी वह शोषण की शिकार होती जा रही है। बलात्कार और उत्पीड़न आम बात बन गयी है। कानून के होने पर भी स्त्री ही आखिर हास्यास्पद साबित हो रही है। पुरुष की विकृत मानसिकता का वह लगातार शिकार होती जा रही है। स्त्री की इस हालात के लिए पुरुष वर्चस्ववादी दृष्टि ही नहीं बल्कि समाज की रूढ़ियाँ भी कार्यरत हैं। विकास के उत्तर-औद्योगिक युग में भी रूढ़ियों के जकड़न में दम घुटकर जीने के लिए वह बाध्य हो रही है। कोख में ही उसकी हत्या हो रही है। परिवार में बोझ के रूप में उसे देखने की दृष्टि आज भी सक्रिय है।

अपनी देह तक सीमित रहने के लिए बाध्य स्त्री की आवाज आज मुखरित हो रही है। वह अपनी सामाजिक बराबरी व स्वत्व की माँग को लेकर पुरुष वर्चस्ववादी समाज में एक प्रतिवादी स्वर को अपनाते हुए अपनी उपस्थिति को दर्ज कर रही है। सर्जनात्मक लेखन के क्षेत्र में भी स्त्रियाँ अपनी अलग अस्मिता को दर्ज करते हुए अपनी समस्याओं को उठा रही हैं, प्रश्नचिह्न लगा रही हैं, प्रतिवाद रच रही हैं। यानी एक स्त्री केन्द्रित नया विमर्श विकसित हो रहा है। स्त्री-मुक्ति-चेतना से प्रेरित लेखन की प्रेरणा पश्चिमी नारी वादी आन्दोलन और लेखन रही है। पश्चिमी नारीवादी विमर्श का विकास सीमोन द बोउवा की कृति 'The second sex' से माना जाता है। वैश्विक स्तर पर स्त्रियों की समस्याओं में समानताएँ हैं, फिर भी

प्रत्येक देश की सामाजिक सांस्कृतिक परम्परा अलग-अलग होने के कारण उनमें भिन्नताएं नज़र आती हैं। अतः स्त्री लेखन के वैश्विक प्रतिमानों के आधार पर भारतीय यथार्थ को आंकना पूरी तरह मुमकिन नहीं है। हिन्दी में स्त्री पक्ष कविताएँ या ऐसा कहना ही ठीक होगा कि स्त्री की कविताएँ इन समस्याओं से जूझते हुए अपने ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में स्त्री के यथार्थ को अभिव्यक्ति दे रही हैं।

पुरुषों द्वारा स्त्री समस्या पर लिखने के प्रयास से वे सहमत नहीं है। यहाँ सहानुभूति और स्वानुभूति का सवाल उठता है। पुरुष लेखकों द्वारा स्त्री पर लिखने की कोशिश को भी स्वीकृति मिल सकती है। जब वे पूरे अधिकार केन्द्रीकरण या पितृसत्तात्मक व्यवस्था पर प्रश्नचिह्न लगाने के साथ उसे तोड़ने का प्रयास भी करते हैं। लेकिन लेखिकाएँ अपने नये विमर्श को स्वानुभूति के नाते अलग स्वत्व देना चाहती है। कात्यायनी का कहना है कि “नारी की सर्वतोन्मुखी समानता के ईमानदार से ईमानदार पक्षधर पुरुष लेखक की अनुभूतियाँ और संवेदनाएँ वे नहीं हो सकता जो एक स्त्री लेखक की। वह स्त्री त्रासदी का दृष्टा ही हो सकती है या सहानुभूति कर्ता, भोक्ता कदापि नहीं। अतः वह नारी मुक्ति आन्दोलन का राजनीतिक-दार्शनिक सूत्रीकरण वे कर सकता हैं पर रचनात्मक लेखन के धरातल पर इसका कृतित्व, उसका बोध (Perception) और एक हद तक धारणाएँ (Conception) भी वह नहीं हो सकती, जो एक स्त्री लेखक की।”<sup>(1)</sup> सर्जनात्मक लेखन पर अपने अलग स्वत्व को दर्ज करने के साथ ही, नारी

---

1. कात्यायनी - दुर्ग द्वार पर दस्तक, दू.सं. 1998, पृ. 45

चेतना की अभिव्यक्ति के लिए अलग भाषा की आवश्यकता पर ज़ोर दे रही है। पुरुष सोच के दायरे में न आने वाली स्त्री सम्बन्धी समस्याओं को व्यक्त करने में पुरुषों द्वारा प्रयुक्त भाषा अपर्याप्त है ऐसा वे मानती हैं। साथ ही पुरुष मेधा समाज में प्रयुक्त भाषा में भी अधिकार के वर्चस्व का अंश रहेगा। अतः वे अपनी अलग भाषा को गढ़ते हुए पुरुष वर्चस्व के खिलाफ सृजनात्मक हो रही है। भाषायी स्वत्व का विचार भी स्वयं अपने स्वत्व का ही दूसरा पहलू है। कात्यायनी ने लिखा है कि “वे जो भाषा को बदलकर, शब्दों को मनमाने अर्थ देकर हमसे चीज़ों की पहचान छीनने की कोशिश कर रहे हैं इतिहास उन्हें भीषण शाप देगा। लोकस्मृतियाँ तो फिर भी रहेगी। कविता तो फिर भी रहेंगी और वे सब शापित लोग कभी सपनों की घाटी में जाना तो चाहेंगे, सरहदों पर उन्हें रोक दिया जाएगा।”<sup>(1)</sup> यह आवेगभरी भाषा में एक प्रतिक्रियावाद नहीं बल्कि स्वत्व से वंचित रखनेवाले तमाम षडयन्त्र के खिलाफ भाषायी स्तर पर भी अपनी अस्मिता को दर्ज करने का प्रयास है।

सदियों से लेकर परिधि में रहकर जिन दर्दों को भोगती आ रही है, उसका नैरन्तर्य आज भी टूटा नहीं है, पुरुषवर्चस्ववादी समाज के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में वह समाज के सामने अनावृत कर रही है। अधिकारग्रस्त समाज में अपने यथार्थ को बेनकाब करने का यह प्रयास दरअसल यह कहने की कोशिश है कि उनकी कोई भी चाल स्त्रियों की नज़र से ओझल नहीं है।

---

1. कात्यायनी - राख अन्धेरे की बारिश में, भूमिका से



## छद्म सामाजिकता में स्वत्व से वंचित स्त्री

अनामिका की कविता 'झूठ' स्त्री स्वत्व को नकारनेवाली पुरुषाधिष्ठित व्यवस्था की साजिश को अनावृत करती है। 'झूठ के पाँव नहीं थे कि वह हमारे कंधे पर बैठा।' आगे झूठ की पहचान को विस्तार दिया गया है कि पहले उसने कहानी सुनायी फिर सवाल पूछा कि 'जानते हुए नहीं दोगे उत्तर तो सिर टुकड़े-टुकड़े हो जाएगा, और जहाँ बोले, मुँह खोले-में अपनी डाली पर वापस चला जाऊँगा उडकर। यहाँ झूठ वह पूरा सामाजिक सांस्कृतिक पक्ष है जिसने स्त्री को घेर लिया है। यह एक ऐसा जाल है जो स्त्री को यन्त्रणाओं की ज़िन्दगी जीने के लिए अभिशप्त करता है। पुरुष केन्द्रित समाज में वह अपनी हैसियत से पूरी तरह वाकिफ भी है। ऐसे में उसे अलग से सोचने के लिए बाध्य किया जा रहा है लेकिन दूसरी और मुँह खोल न पाने की मजबूरी। एक ऐसी जकडन जो उसे हमेशा बेजुबान बनाए रखना चाहती है।

*"हमने सोचा, कितना अच्छा हो / कि हम जाने, न बूझें / और सिर के बदले / एक बड़ा तरबूज / गर्दन पर ढो ले। / पर सोचने से क्या होता है? / झूठ की उम्र नहीं थी / (होती ही नहीं) / वह हमारी उम्र लेकर जिया / हमारे बाद तक।"*<sup>(1)</sup>

यह अधिकार केन्द्रीकरण के विस्तार की ही मिसाल है कि स्त्री के स्वतन्त्र चिन्तन को अवरुद्ध कर, प्रश्न पूछने के हक को छीनकर, मानसिक प्रताडना के ज़रिए अपने काबू में रखने का षडयन्त्र चल रहा है। 'सिर की जगह तरबूज' को ढोने की यानी अपने स्वतन्त्र चिन्तन को अवरुद्ध रखने

---

1. अनामिका - बीजाक्षर, प्र.सं. 1993 - पृ. 24, 25

की बाध्यता का सिलसिला सदियों से जारी है। अपनी नियति से समझौता करने के लिए मजबूर करनेवाली सामाजिक मान्यताओं की दीवार इस कदर पुख्ता है कि अपने आपको बेबुनियाद बेजुबान बनाए रखने की विवशता को ढोती आ रही है। कात्यायनी की कविता 'स्त्री का सोचना एकान्त में' भी प्रस्तुत प्रकरण में विचारणीय है। 'चैन की साँस के लिए स्त्री अपने एकान्त को बुलाती है, एकान्त को छूती है और संवाद करती है उससे जीती है उसको चुपचाप, दुःख बाँटने की कोशिश नहीं करती, बस सोचती है। एकान्त की आकांक्षा दरअसल स्वत्व की आकांक्षा है। अपने निजत्व में रहकर वह सोचना चाहती है। सोचने की यह क्रिया मामूली नहीं है क्योंकि यह अपनी वैचारिक संभावना के प्रति उसकी सजगता है। लेकिन इसका परिणाम है कि

*“जैसे ही / वह सोचती है / एकान्त में / नतीजे तक पहुँचने से पहले ही / खतरनाक / घोषित / कर दी जाती है।”<sup>(1)</sup>*

यहाँ कात्यायनी ने स्त्री की वैचारिकता के सन्दर्भ में पुरुष वर्चस्व यानी अधिकार के वर्चस्व के चरित्र का उद्घाटन किया है। स्त्री के सोचने के क्रम को समाज का अधिनायकत्व कभी बर्दाश्त नहीं कर सकता। स्त्री की वैचारिकता दरअसल अपनी जडता से उसका उबरना है। अपने वजूद को अलग से रेखांकित करना है। अतः उसे तोड़ने के लिए समाज के तमाम स्तर पर अधिकार केन्द्रों द्वारा साजिश रची गयी है। सोचनेवाली स्त्री को

---

1. कात्यायनी - सात भइयों के बीच चम्पा, प्र.सं. 1994 - पृ. 13

खतरनाक घोषित करते हुए ऐसा षडयन्त्र रचा जाता है कि उसमें दम घुटकर जीने के लिए बाध्य किया जा रहा है।

एक अधिकार ग्रस्त समाज में पुरुष वर्चस्व के दबाव के बीच स्त्री की उपस्थिति का दायरा इस कदर सीमित है कि उसकी ज़िन्दगी तलाश की अनवरत यात्रा बनती है। पुरुष केन्द्रित समाज में अपनी जगह को पाने की आकांक्षा उसकी स्वत्व-चिन्ता है जो लगातार उसे धोखा दे रही है। अनामिका की कविता 'ढूँढना' एक चालाक किस्म की सामाजिकता के बोंचों बीच एक बेचैनी भरी तलाश पर आधारित है। एक दर्दभरी आत्मस्वीकृति कि 'मेरे लक्षण अजीब हैं, चीज़ें मुझसे खोती रहती हैं लगातार !' इस खोने के सिलसिले के बल पकड़ने के क्रम में यह अन्दाज़ा लगाना नामुमकिन हो रहा है कि 'खो क्या गया? इसी अतिरंजना में सदियों की त्रासदी की विद्रुपता जाहिर होती है। तमाम दवाबों के बीच यह उसकी ज़िन्दगी का ऐसा खालीपन है या सूनापन है जो उसे काटता रहता है। खोई हुई चीज़ों का विस्तार इस प्रकार है कि 'ढक्कन कलम के, चाभी के गुच्छे, बुँदके, कितावें, अवसर, आँखों के तारे भी। उसके विकास के मौके को छीनने के क्रम में उसकी सृजनात्मकता उसके सपने को भी नष्ट करने का प्रयास हो रहा है। वर्चस्ववादी सामाजिक संरचना के बीच अपनी अस्मिता की तलाश भी उसे धोखा ही देती है। अनामिका के शब्दों में -

*"एक दिन / अलसुबह / भरपूर मानस मनाने के बाद उठो, /  
एक असाँस भरों कर्मयोग की / कमर कसो और उसे ढूँढने चलते /  
तो दुनिया की हर चीज़ मिल जाएगी / सिवा उसके ! / ढूँढना एक*

जादुई प्रक्रिया है / जिसमें मिल जाता है सब कुछ / सिवा  
उसके।”<sup>(1)</sup>

स्त्री की अपनी अस्मिता की यह तलाश वास्तव में उनके अवमूल्यन पर तुले हुए सांस्कृतिक षडयन्त्र के बीच मानवीय मूल्यों की ही तलाश है। छद्म सामाजिकताओं के रहते आखिर स्त्री के हक की, अपने वजूद की यह माँग हमेशा नकार दी जाती है कि एक हताशा व विवशता उसका जीवन यथार्थ बनता है। समाज का वर्चस्ववादी नज़रिया कभी भी स्त्री के एकान्त को बर्दाश्त नहीं करेगा। स्त्री की मुखरता को नकारते हुए अमानवीयता की तंग गलियों में उसे बन्द रखने की यह साजिश नयी नहीं है। उपनिषद में चर्चित गार्गी वैचारिक तौर पर मुखर थी। वह भी अपने अलग स्वत्व की माँग से वंचित रखी गयी। उसे तो हमेशा मात्र याज्ञवल्क्यों के साथ जोड़कर देखने की आदी बनी सामाजिकताओं का सामना करना पड़ा है। कात्यायनी की कविता ‘गार्गी’ मिथकीय सन्दर्भ में औरत के स्वत्व को नकारनेवाली साजिशों को अनावृत करती है -

“मत जाओ गार्गी प्रश्नों की सीमा से आगे / तुम्हारा सिर काटकर  
लुढ़केगा ज़मीन पर / मत करो याज्ञवल्क्यों की अवमानना / मत  
उठाओ प्रश्न ब्रह्मसत्ता पर / वह पुरुष है।”<sup>(2)</sup>

गार्गी का प्रश्नों की सीमा के आगे जाना पुरुष वर्चस्व के खिलाफ होना है यानी गार्गी के सोचने का मतलब परम्परा को नकारना है यही हमारी

---

1. अनामिका - अनुष्टुप, प्र.सं. 1998 - पृ. 20, 21

2. कात्यायनी - सात भइयों के बीच चम्पा, प्र.सं. 1994 - पृ. 32

सामाजिक दृष्टि है। इधर गार्गी के सोचने की स्वाधीनता से सहमत होना उसकी स्वतन्त्र अस्मिता को स्वीकृति देना होगा। अतः गार्गी को पुत्री बनकर पिता का प्यार पाना है पुरुष की अंकशायिनी बनता है, अपने कोख को भरना है, पतिव्रता होकर पुरुष के अधूरे जीवन को महान बनाने में मददगार होना है, आसमान तक चढ़ने के लिए रस्सी बनना है। पुरुष द्वारा निर्धारित इन्हीं मापदंडों के अनुसार अपनी ज़िन्दगी को जीने की विवशता स्त्री का यथार्थ है। पाश्चात्य धर्म ग्रन्थों के अनुसार आदम की पसली से स्त्री का जन्म हुआ था। यानी पुरुष वर्चस्ववादी समाज स्त्री की उत्पत्ति तक को स्वतन्त्र नहीं मानता है। सविता सिंह की कविता 'एक अन्धेरा जो सालता है' इसी सच्चाई को सामने लाती है। एक ऐसा भ्रमजाल है जिससे समझौते के लिए स्त्री को बाध्य किया जा रहा है। उसे धमकी दी जा रही है कि स्त्री की दुनिया पुरुष से बनती है -

*“एक दुविधा है जो कहती है / 'मुझसे बनी हो तुम / यात्रा करती हो मुझमें ही / मैं एक रात हूँ सुरंग-सी / जिसमें सच झूठ का फर्क नहीं होता / और किसी भी यात्रा का मुझमें कोई अन्त नहीं होता / यहाँ सिर्फ नियति होती है।”<sup>(1)</sup>*

आखिर पुरुष के बिना स्त्री की ज़िन्दगी अधूरी रह जाती है क्योंकि माँ बनने में स्त्री की पूर्णता है। फिर भी यहाँ प्रश्न यह है कि स्त्री के अपने स्वतन्त्र अस्तित्व तक को नकारते हुए उस पर रोब जमाने की कोशिश जो लगातार हो रही है वह स्त्री के लिए कहाँ तक वाँछनीय हो सकती है। जहाँ

---

1. सविता सिंह - अपने जैसा जीवन, प्र.सं. 2001 - पृ. 21

आपसी प्रेम की भावना नगण्य हो जाती है और अधिकार का स्वभाव अहमियत पाता है वहाँ वर्चस्व की अधीनता से समझौता करना स्त्री की मज़बूरी बनती है।

### रूढ़ मान्यताओं की जकड़न में दम घुटती स्त्री

हमारी परम्परागत पारिवारिक पितृसत्तात्मक व्यवस्था में रूढ़िवादी मानसिकताओं के तहत लड़की पराए घर की मानी जाती है। उसी क्रम में उसे अपने स्वत्व से, सपनों से, आकांक्षाओं से हाथ धोना पड़ता है। कात्यायनी की कविता 'हाँकी खेलती लड़कियाँ' रूढ़ मान्यताओं की शिकार बनी सामाजिक दृष्टि और हाँकी खेलती लड़कियों के सपने को आमने सामने रखकर लड़कियों के यथार्थ को अनावृत करती है।

“वे लहरा रही है / चमक रही है / और मैदान के अलग-अलग कोनों में / रह-रहकर उमड-घुमड रही है / वे चीख रही हैं, सीटी मार रही हैं / और बिना रुके / भाग रही है / एक छोर से दूसरे छोर तक। / उनकी पुष्ट ठाँगें चमक रही हैं / नृत्य की लयबद्ध गति के साथ / और लड़कियाँ हैं कि / निर्द्वन्द्व निश्चित हैं।”<sup>(1)</sup>

हाँकी के मैदान में असल में वे जी रही है, निर्द्वन्द्व, निश्चित ज़िन्दगी जिसमें हँसी उसके साथ है। 'वे हँस रही है कि यह ज़िन्दगी नहीं है।' दरअसल एक ऐसी ऐतिहासिक जगह के बाहर जीना है जहाँ किसी का हस्तक्षेप नहीं है। यह ज़रूरी ऐतिहासिक समय के बाहर की ज़िन्दगी है

---

1. कात्यायनी - सात भइयों के बीच चम्पा, प्र.सं. 1994 - पृ. 19

क्योंकि उनसे जुड़ा हुआ यथार्थ अलग है। बिना सोचे कि मुँह दिखायी की रस्म के समय सास क्या सोचेगी, वे निर्भीक होकर दौड़ रही है लेकिन उन्हें लौटना पडता है घर। अगर ऐसा न हो तो

*“समय रुक जाएगा / इन्द्र-मरुत-वरुण सब कुपित हो जाएँगे/  
वज्रपात हो जाएगा, चक्रवात आ जाएगा।”<sup>(1)</sup>*

इसी यथार्थ को झेलनी है लडकियों को। वरन् वर पक्ष के लोग पैर पटकते चले जाएँगे और पूरा परिवार उन्हें कोसेंगे। आखिर घर अन्धेरे में डूब जाएगा, लडकियाँ अन्धेरे में घूरती रहेंगी और सपने में अपने को बॉल के पीछे दौड़ती हुई पायेंगी। उनकी आकांक्षाएँ अब मात्र सपने में मूर्त होगी। सामाजिक परिवर्तन की ऊपरी चमक दमक के अन्दर रूढ़िवादी सामाजिक मान्यताओं व संकुचित नज़रों के तहत लडकियों की ज़िन्दगी अधूरे सपनों में सीमित रहती हैं।

स्त्री-पुरुष असमानता की शुरुआत घर से ही होती है। परिवार की अपनी नैतिकता होती है। स्त्री-पुरुष के बीच समानता का सम्बन्ध, आपसी प्रेम भावना, दोनों को समान तौर पर व्यक्तित्व के विकास की संभावना आदि घर की अपनी नैतिकता के आधार है। लेकिन परिवार का आधार अक्सर स्त्री पर पुरुष का दबाव ही साबित हो रहा है। अनितावर्मा की कविता 'घर' परिवार में स्त्री की सही स्थिति की पहचान बनती है। वे स्वीकार करती है कि

---

1. कात्यायनी - सात भइयों के बीच चम्पा, प्र.सं. 1994 - पृ. 19

“यहाँ कई आत्माएँ निवास करती है / यह उनके इकट्ठा होने का एक गैर-पूँजीवादी तरीका है। / जो खून के नमक ने पैदा किया है।”<sup>(1)</sup>

यह घर की अपनी नैतिकता या मानवीयमूल्य पर आस्थावादी दृष्टि है ज़रूर। लेकिन इससे जुड़ी अन्य विडम्बना है कि “यहाँ संधमारी और टूटन के भी अलग ढंग हैं वे बाहर से ज्यादा भीतर से पैदा होती है। ‘घर में ‘प्रशासन का व्याकरण’ ज्यादा अहमियत पा रहा है। प्रकारान्तर से आपसी प्रेम की भावना नष्ट हो कर दबाव और समझौते का सिलसिला शुरु होता है। अगर वह नौकरीपेशा हो तो भी पति की मर्जी पर उसे निर्भर रहना पडना है। पत्नी को नौकरीपेशा देखने का आग्रह भी कभी कभी हैसियत को बढ़ाने मात्र में सीमित है। इसी इरादे से स्त्री को शिक्षित आधुनिक नारी के रूप में देखना चाहता है। ऐसे में स्त्री की हैसियत घर में पुरुष द्वारा ही निर्धारित होती है। यहाँ भी आपसी प्रेम की भावना ढीली होती है और पारिवारिक माहौल की स्वच्छता के लिए स्त्री को हमेशा समझौता करना पडता है -

“पृथ्वी पर रहने आये थे हम और हमारा घर थी / इसकी छत आकाश थी / सूरज और चाँद की बस्तियाँ अब भी याद दिलाती है / किसी पुराने प्रेम की / अब समझौते का घर बनता है जहाँ संस्कार के तहत / हम प्रेम करते है या फिर नहीं करते।”<sup>(2)</sup>

---

1. अनिता वर्मा - एक जन्म में सब, प्र.सं. 2003 - पृ. 19

2. वहीं



अक्सर घर और स्त्री के बीच का सरोकार पुरुषवर्चस्ववादी माहौल में समझौते का होता है।

आज के दौर में घर की चार दीवारी से ज़रूर अंशिक तौर पर आज़ाद हो पायी है। वह घर के बाहर रोज़गार पा रही है। वह अपने आप पर निर्भर होने लगी है। लेकिन इससे जुड़ी विडम्बना यह है कि अब घर में ही नहीं बाहर भी वह उत्पीडन की शिकार होती जा रही है। सविता सिंह की कविता 'नारी मुक्ति के फायदे' इसी यथार्थ को सामने लाती है।

“कुछ लोग समझ रहे हैं अब / नारी मुक्ति के हैं कुछ फायदे /  
देखिए किस तरह ढो रही हैं ओरते / पहले से आठगुना भार /  
पैदा कर रही हैं पाल रही हैं बच्चे अकेले / चल रही है देश और  
समाज / कमा रही है खा रही है अपना / मुक्त कर चुकी है पुरुषों  
को अपने पहले से ही।”<sup>(1)</sup>

आज स्त्रियों के श्रम का दोहन हो रहा है। एक ओर मेहनतकश स्त्रियाँ अपनी ज़िन्दगी की सहजताओं से वंचित हो रही हैं दूसरी ओर उसकी लूट हो रही है। घर के बोझ के साथ काम का बोझ भी ढोने के लिए वह बाध्य हो रही है। समाज अब सोचने लगा है कि 'कितना निरर्थक था बाँधकर रखना उन्हें।' स्त्री के श्रम के दोहन मात्र में स्थितियाँ समाज नहीं है बल्कि ऐसी घिनौनी दृष्टि का भी शिकार हो रही है कि

---

1. वसुधा - अंक 59-60 में प्रकाशित - पृ. 145

“अच्छा है मुक्त हो रही है मिल सकेंगी स्वच्छन्द अब / संभोग  
केलिए / एक समय जैसे मुक्त हुए थे श्रमिक पूँजी केलिए / आज  
भी प्रेम के बहाने उन्हें ले जाया जा सकता है / अन्धेरे में।”<sup>(1)</sup>

पुरुष की धिनौनी मानसिकता के तहत प्रेम को भी शरीर में सीमित करके देखा जा रहा है। ऐसे में उस पर ज़बरदस्तियाँ हो रही हैं। यानी घर के भीतर और बाहर स्त्री महज इस्तेमाल की चीज़ रह जाती है।

### देह में सीमित होने की विडम्बना

पुरुषाधिष्ठित मूल्यों से बने समाज में सदियों से स्त्री को उसकी आत्मा से काटकर शरीर मात्र में सीमित करके देखने की दृष्टि बलवती रही है। भोग की वस्तु में उसकी हैसियत को सीमित रखने का प्रयास अधिकार ग्रस्तता का उदाहरण है। पुरुष की विकृत मानसिकता स्त्री की देह पर छेड़छाड़ करती आयी है। बलात्कार और यौन उत्पीड़न की खबरें आज आम बात हैं। स्त्री को महज शरीर के रूप में देखते हुए उसे मनुष्य का दर्जा देने को हिचकनेवाली सामाजिक विद्रूपता आज प्रबल है। सामाजिक परिवर्तनों के बावजूद भी स्त्री को शरीर के रूप में देखने वाला सामन्तीपन ढीला नहीं हुआ है। कात्यायनी की कविता ‘शहर को चुनौती’ इसी यथार्थ को सामने लाती है। कविता की स्त्री समाज की विकृत मानसिकता को तोड़ना चाहती है और एक चुनौती के रूप में वह निर्वस्त्र होकर, निस्संग, निर्द्वन्द्व होकर खड़ी है।

---

1. वसुधा - अंक 59-60 में प्रकाशित - पृ. 145

“दर्द की अनगिन लकीरों ने / धारीदार चादर-सा / ढंक रखा है  
उसके शरीर को / रक्त की बहती धार से वहाँ / बागपत से लेकर  
पडरिया तक की / दास्तान लिखी है।”<sup>(1)</sup>

भूण्डलीकरण के दौर में आज बाज़ार का वर्चस्व सर्वव्यापी है। बाज़ार के फैलाव के तहत जो उपभोक्ता संस्कृति बल पकड़ रही है उस की सौन्दर्य पिपासा की शिकार वह बन रही हैं। उपभोक्ताओं की भीड़ तैयार करने के लिए, उनकी हवस को जगाने के लिए विज्ञापनों में स्त्री शरीर का भरपूर इस्तेमाल हो रहा है। अनिता वर्मा की कविता ‘इस्तेमाल’ इसी यथार्थ को सामने लाती है-

“खरीदनी है अगर दवा तो देखो स्त्री को / दर्द से ज्यादा  
असरदार है उसकी कमर / तेल से ज्यादा सुन्दर है केश कपड़ों  
से ज्यादा देह / देखो चमकीली आँखें चिकनी त्वचा / काली करों  
कल्पना अगर खरीदनी हो गज़ल।”<sup>(2)</sup>

स्त्री की संभावनाओं को मात्र शरीर में सीमित करके देखने की आदी हो गयी सामाजिकता सांस्कृतिक संकट का प्रबल पक्ष है। विज्ञापनों सौन्दर्य प्रतियोगिताओं या फिल्मों में शरीर के तौर पर स्त्री का दोहन ही हो रहा है।

### दलित के दर्जे में सीमित मनुष्य का यथार्थ

मनुष्य के जीवन का सबसे त्रासद यथार्थ है मनुष्य को मनुष्य द्वारा मनुष्य का दर्जा देने से भी वंचित रखना। ब्राह्मणवादी विचारधारा समाज की

1. कात्यायनी - सात भइयों के बीच चम्पा, प्र.सं. 1994 - पृ. 23, 24

2. अनिता वर्मा - एक जन्म में सब, प्र. सं. 2003 - पृ. 25

पूरी संरचना पर हावी है। आर्थिक स्तर पर शोषण के जारी रखने के लिए सवर्ण वर्चस्वशाली जाति संरचना के तहत कुछ मनुष्यों को दलित का दर्जा देकर हाशिये की ओर धकेल दिया गया है। आज़ादी के बाद मानव अधिकारों की घोषणा के बावजूद दलितों की गुलामी इतिहास का अध्याय मात्र नहीं रह गयी है। वर्चस्ववादी समाज में दलितों के लिए अस्पृश्यता के साथ ही साथ आर्थिक विपन्नता भी बुनियादी समस्या रही है। दोहरी मार से आहत मनुष्यों की यन्त्रणाओं की अभिव्यक्ति के लिए आज अलग से सौन्दर्यशास्त्र गढ़ने की आवश्यकता पर बल दिया जा रहा है। इसी का परिणाम है दलित साहित्य। दलित साहित्य के सन्दर्भ में शरण कुमार लिम्बाले, जो मराठी दलित रचनाकार हैं, का कहना है कि “दलित साहित्य अर्थात् दलित लेखकों द्वारा दलित चेतना से दलितों के विषय में किया गया लेखन। दलित साहित्य का स्वरूप उसके अन्तर्गत होनेवाले दायित्व में है और उसका प्रयोजन स्पष्ट है। उसका लक्ष्य है दलित समाज को गुलामी से अवगत कराना और सवर्ण समाज के समक्ष अपनी व्यथा और वेदनाओं का बयान करना।”<sup>(1)</sup> मराठी साहित्य से प्रेरणा पाकर व महाराष्ट्र में प्रार्थनासभा, जयोतिबाफुले और अम्बेडकर के समानतावादी आन्दोलन से प्रेरित होकर हिन्दी में दलित साहित्य का विकास हुआ था।

दलित साहित्य के सन्दर्भ में हमेशा यह विवाद रहा है कि गैर दलितों द्वारा लिखित साहित्य उसके दायरे में आ जाएगा या नहीं और साथ ही दलित कहने पर उसमें कौन-कौन शामिल होते हैं। स्त्री पक्ष साहित्य के

---

1. शरणकुमार लिंबाले - दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, प्र.सं. 2000 - पृ. 29

समान दलित पक्षधरता को भी इस मायने में सहमति दिया जा सकता है कि वह दलितों के पक्ष में रहकर उन्हीं के लिए आवाज़ उठाते हुए उसके लिए कारक बनी पूरी सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक व्यवस्था पर प्रश्नचिह्न लगाने में सक्षम है या नहीं। स्वानुभूति और सहानुभूति को आमने-सामने रखकर विचार करने पर सहानुभूति को दायम दर्जा ही दिया जा सकता है। धूमिल की कविता उल्लेखनीय है कि 'लोहे का स्वाद लुहार से नहीं / उस घोड़े से पूछो / जिसके मुँह में लगाम है।' यह अनुभव का यथार्थ है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए लोगों को दलित जाति के साथ शामिल करने पर भी जातिगत और आर्थिक, इनकी दोहरी मार से पीड़ित लोगों की वेदना को अलग से दर्ज करने की ज़रूरत है। आर्थिक विपन्नता से मुक्ति के लिए पूँजीवादी गिरोह को तोड़ने की आवश्यकता है तो जातिगत उत्पीड़न से मुक्त होने के लिए पूँजीवादी व्यवस्था के साथ ही साथ जाति संरचना को भी तोड़ना होगा। गरीब अमीर बन सकता है लेकिन दलित ब्राह्मण नहीं। ब्राह्मणवादी समाज की सामन्ती दृष्टि आज भी सम्पन्न दलितों को भी घृणा की नज़र से देखने के आदी है। आज भी दलितों को बराबरी का दर्ज पूर्णतः प्राप्त नहीं है। ऐसे में वे अपने जीवन यथार्थ को समाज के सामने खुलकर पेश करते हैं। दलित साहित्य में पूरे हाशियाकृत मनुष्य की दलित होने की आसंख्य वेदनाएँ शब्द पा रही हैं। ओम प्रकाश वाल्मीकी की कविता 'उपोत्पाद' दलितों की मानवीय त्रासदी को दर्ज कर रही है।

“पैदा हुए वैसे ही / जैसे होते है पैदा / गलियों में कुत्ते-  
बिल्ली।”<sup>(1)</sup>

यह बयान समाज में अपनी हैसियत को लेकर है। ब्राह्मणवादी समाज ने दलितों के स्पर्श तक को पाप करार दिया है। उन्हें अस्पृश्य कहकर दुनिया की नज़र में घृणित बनाने की साजिश सामन्ती दौर से आज तक जारी है। गलियों के कुत्ते-बिल्ली की हैसियत में मनुष्य को सीमित रखने से उत्पन्न दर्द हमारे सांस्कृतिक विघटन की उपज है। समाज की धिनौनी मानसिकता के तहत उपोत्पद बनकर जीने की विवशता सामान्य समस्या नहीं है। कविता में कहा गया है कि ‘पैदा हुए वैसे ही जैसे होती है खेत में पैदा खर पतवार हरी दूब झाड़-झंखाड़, पैदा हुए वैसे ही जैसे खांड बनाने की प्रक्रिया से पैदा होता है शीरा, पेट्रोल से तारकोल।’ अस्पृश्यता के नाम पर गुनहगार करार दिया जाता है कि दूसरों की थूक को भी अपनी नियति समझकर समझौता करने की मजबूरी दलित का यथार्थ है। समाज के मैल को उठाने की विवशता एक ओर, दूसरी ओर उसी समाज की नज़र से घृणित होने की पीडा, सदियों से इस यन्त्रणा को प्रत्येक दलित कहलाने वाला मनुष्य भोगता आया है। यानी उनकी श्रम शक्ति का निरन्तर दोहन होता आया है।

‘मोती से बनती है माला / जिसे गले में डालकर / बैठते हैं वे  
राजसिंहासन पर / और हम / खो जाते हैं / अन्धरे में वैसे ही /  
जैसे पैदा हुए / गुमनाम / उपोत्पाद की तरह।’<sup>(2)</sup>

1. ओमप्रकाश वाल्मीकि - बस्स! बहुत हो चुका, प्र.सं. 1997 - पृ. 18

2. वहीं पृ. 19

इन्हीं के श्रम के बलबूते या इन्हीं की लूट से समाज प्रगति की ओर अग्रसर होता है और दूसरी ओर उन्हें ही अन्धेरे की खाई में धकेलते हुए एक नामहीन ज़िन्दगी जीने के लिए बाध्य किया जा रहा है। उनके श्रम का शोषण हो रहा है। दो जून की रोटी के लिए उन्हें तरसना पड़ता है। 'फिर भी कविता' उनकी असली हालात को नंगा करती है।

“काटे जंगल / खोदे पहाड / बोये खेत / फिर भी भूखे / बनायी नहरे / खोदें कुएँ / लगाये नल / फिर भी रहे जाते। बैलों के समान लगातार श्रम करने के बावजूद भरपेट खाना मथस्सर नहीं होता। बेज़मीन होकर गाँव के बाहर सांस्कृतिक विरासत से अलग होकर वर्चस्ववादियों द्वारा बहिष्कृत होने पर भी उन्हीं के अधीन रहकर उन्हीं की इच्छा के मुताबिक अपनी ज़िन्दगी जीने की अभिशप्तता दलितों की त्रासदी है। अन्न उगाने वालों को खानी पड़ती है मालिकों की जूठन। भूख के साथ भोगनी पड़ती है अवहेलना। अपने को कुत्तों की ज़िन्दगी जीने के लिए बाध्य करनेवाली साजिश के विरुद्ध उसमें परिवर्तन ला पाने की इच्छाशक्ति के बावजूद दुत्कार ही मिलता है।

“हाथों में अथाह शक्ति / सीने में धैर्य / मन में विश्वास / फिर भी सही चुत्कार।” / नहीं बोये काँटे / बाँटे सिर्फ / सगुन प्यार के / फिर भी रहे अछूत।”<sup>(1)</sup>

अपने नागरिक-अधिकार में से वंचित रखनेवाली सामाजिक आर्थिक सांस्कृतिक स्थितियों के प्रति असहमति दर्ज करना भी आसान नहीं है।

---

1. ओमप्रकाश वाल्मीकि - बस्स! बहुत हो चुका, प्र.सं. 1997 - पृ. 53, 54

सामाजिकता उन्हें सन्देह की दृष्टि से देखती है। हिंसा और आतंक से उन्हें हमेशा यथास्थिति को ढोने के लिए बाध्य करती है। विरोध करनेवालों को दबाने की अधिकार केन्द्रित तानाशाही के तहत बेजुबान रहना पड़ता है। आगे बढ़ने के लिए दूसरों को रौंदकर, मसलकर, दबाकर निकलनेवाली तानाशाही के तहत दलित लगातार दबाया जाता है। 'यातना' कविता अतीत और वर्तमान के बीच उठी अनगिनत चीखों का दस्तावेज़ पेश करती है-

“डर समा जाये / जिस्म के पोर-पोर में / जब अतीत और  
वर्तमान / मिलकर एक हो जायें / धुएँ के बीच / टूटती  
सिसकियाँ / ज़मीन पर घुटने टेक दें / चुप हो जाये”<sup>(1)</sup>

दलित उत्पीड़न शारीरिक यन्त्रणाओं तक सीमित नहीं है। अछूत होने के अपराध के नाम पर उन्हें अपनी इच्छाओं और आकांक्षाओं से भी समझौता करना पड़ता है। यही दर्द त्रासद एहसास देता है कि

“शारीरिक यातनाओं से / बड़ी यन्त्रणा होती है / इच्छाओं के  
विरुद्ध जीना / या देखते-देखते छिन जाना / उन क्षणों का /  
जिनसे हँसा जा सकता था / गुनगुनाया जा सकता था / हवाओं  
की तरह।”<sup>(2)</sup>

इन्हीं यन्त्रणाओं से वे सदियों से गुज़र रहे हैं या उन्हें गुज़रने के लिए बाध्य किया जा रहा है।

---

1. ओमप्रकाश वाल्मीकि, बस्स! बहुत हो चुका, प्र.सं. 1997 - पृ. 34, 35

2. वहीं - पृ. 34



मनुष्य का अवमूल्यन हमारे समय को आहत करनेवाली सच्चाई है। समाज में प्रगति की रफ्तार इतनी तेज़ है कि मनुष्य अपने आपको हास्यास्पद स्थिति में पा रहा है। विकास और मनुष्य की हालात में कोई तालमेल न होना हमारे समय का यथार्थ है। मानवीय अधिकारों की घोषणा के बावजूद अधिकार केन्द्रीकरण के कारण लगातार उसका हनन हो रहा है। दूरगामी दृष्टि के बिना विकास का ऐसा रास्ता अपनाया जा रहा है जो मनुष्य को जड़ से उखाड़ने में लगा हुआ है। ऐसे में मनुष्य के संकट के प्रति जवाबदेह होने के दायित्व को लेकर हमारी राजनीति निस्संग है। वह कतराने की प्रवृत्ति की आदत का ही नहीं तानाशाही चरित्र का भी परिचय दे रही है। इनके बीच मनुष्य के अन्दर की मानवीयता का क्षरण हो रहा है कि अनैतिकता हर बार पुख्ता हो रही है। अपनी आँखों के सामने हादसों को देखकर भी उसे अनदेखा करने की अनैतिकता आज मनुष्य की आम पहचान बननी जा रही है। मनुष्य में साम्प्रदायिक मनोवृत्ति इस कदर हावी है कि मनुष्य को मनुष्य की नज़र से न देखकर धर्म की नज़र से देखने के आदी हो रहे हैं। धर्म और राजनीति के गठजोड़ के रहते मनुष्य का निरन्तर अवमूल्यन हो रहा है। प्रगति के नारों की बुलन्दगी के बावजूद स्त्री के प्रति पुरुष की घिनौनी दृष्टि में खास परिवर्तन नहीं आया है। आज भी सामाजिक मान्यताएँ स्त्री को यन्त्रणाओं की ज़िन्दगी दे रही हैं। मनुष्य को मनुष्य का दर्ज से हिचकने वाली छद्म सामाजिकता उसे दलित कहकर पुकार रहा है। मनुष्य से जुड़े इन सच्चाइयों को समकालीन कविता अपने में समेट रही है। समकालीन कविता की संवेदनशीलता वर्तमान का तमाम प्रतिगामी स्थितियों को अनावृत कर रही है। अपनी प्रतिक्रिया दर्ज कर रही है और हमें सोचने के लिए बाध्य करती है।

## अध्याय - 5

समकालीन कविता का इच्छित यथार्थ

प्रतिरोध समकालीन कविता का इच्छित यथार्थ प्रतिरोध है। समकालीन कविता अपने समय के मानवीय संकट से उद्भूत गहरी बेचैनी को व्यंजित कर रही है। इसलिए वह समकालीनता के अर्थ को व्यापक बनाने वाली कविता है। वह वर्तमान से जिरह करती नज़र आती है। वह प्रतिरोध की ज़मीन पर खड़ी है। आस्था को जिलाए रखते हुए वह भविष्य की कविता बन रही है। कविता की यह प्रतिरोधी आवाज़ स्वयं एक विकल्प है। समकालीन कविता का प्रत्येक कवि अपने अन्दाज़ में प्रतिरोध को दर्ज कर रहा है। उल्लेखनीय है कि सत्तर की कविता के समान यह आवेगभरी प्रतिक्रिया नहीं है। अन्यायपूर्ण समाज व्यवस्था में मानव समुदायों को विरूपित होते देखने के बाद का रास्ता सिनिसिसम या रुमानी आक्रोश की ओर नहीं जाता बल्कि वंचित मनुष्यों के बुनियादी, गतिशील और एन्द्रिक लगाव की ओर जाता है, ताकि रचना इस मानवीय तन्त्र के सामने प्रतिपक्ष की भूमिका निभा सके।<sup>(1)</sup> उल्लेखनीय है कि समकालीन कविता जब मनुष्य के यथार्थ को अभिव्यक्त करती है तो उसका प्रतिरोधी स्वर ही परिलक्षित होता है। मानवीय विडम्बनाओं को अनावृत करने के पीछे कविदृष्टि में निहित गहरी पहचान है। समकालीन कविता की इधर की

---

1. विजयकुमार - कविता की संगत, पुनर्मुद्रित 1996 - पृ. 18

पच्चीस-तीस वर्ष की यात्रा में उसके इच्छित यथार्थ को अलग-अलग स्वरों में कवियों ने व्यंजित किया है। समकालीन कविता वर्तमान को गहरे इतिहासबोध के साथ विश्लेषित करती है। वर्तमान की जडता को तोड़कर भविष्य की राह को प्रशस्त करने की भरसक कोशिश करते हुए वह कविता होने के नाते अपनी मानवीय संसक्ति को दर्ज कर रही है। कविता की यह मानवीय संसक्ति ही उसका इच्छित यथार्थ है।

अपनी मानवीय संसक्ति को दर्ज करते हुए प्रतिरोध की बहुस्वरता का परिचय वह दे रही है। अपने समय के मनुष्य विरोधी स्थितियों में हस्तक्षेप करते हुए, कहीं प्रश्नचिह्न लगाते हुए अधिकार ग्रस्त काल को तोड़ना चाहती है और इसके खिलाफ अपने में एक प्रतिसंसार गढ़ना चाहती है। कहीं मनुष्य के अन्दर झाँकते हुए, उसकी नैतिक विद्रूपताओं को तोड़ते हुए मानवीय मूल्यों की तलाश करती नज़र आती है। तलाश मात्र में सीमित न रह कर वह एक प्रतिसंस्कृति को भी रचती है। दोनों कार्य समकालीन कविता में गहरे संकल्प के साथ क्रियान्वित नज़र आता है।

### **सच और सपनों के बीच आस्था और संघर्ष की तलाश**

यह देखना अब उचित होगा कि समकालीन कविता ने अपने इच्छित यथार्थ को किस तरह से व्यक्त किया है। मौजूदा नव औपनिवेशिक माहौल में एक ओर साम्राज्यवादी हमले हो रहे हैं दूसरी ओर मनुष्य की ज़िन्दगी सत्ता की राजनीति द्वारा तय हो रही है। इसलिए अधिकारकेन्द्रीकृत समय में दोहरे स्तर पर मुठभेड़ किए बिना कविता की मानवीय संसक्ति व्यापक नहीं बन पाती है। विकास का छद्म रचते हुए उसकी आड में

सुरक्षित रहनेवाली सत्ता की राजनीति के खिलाफ धूमिल की कविता 'पटकथा' अपनी प्रतिरोधी आवाज़ की पहचान देती है। धूमिल की कविता से समकालीन कविता का आज का दौर कुछ अर्थों में भिन्न ज़रूर है। फिर भी आज की कविता का जनवादी स्वर उनकी कविताओं की निरन्तरता है। कविता, 'जनतन्त्र एक ऐसा तमाशा है / जिसकी जान मदारी की भाषा है' या 'अपने यहाँ संसद तेल की वह धानी है / जिसमें आधा तेल है और आधा पानी है' कहकर राजनैतिक विसंगतियों को बेनकाब करते हुए भूमिका की कविता अपने समय की सही पहचान देती है। भले ही सरल और सपाट लगती हो फिर भी उसकी अपनी प्रतिबद्धता असंदिग्ध है। काल के छद्म को तोड़ते हुए वर्तमान नवऔपनिवेशिक सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में कविता एक आह्वान का स्वर अपनाती है। मनुष्य विरोधी समय में रौंदे गए मनुष्यों को अपनी जड़ता से बाहर लाते केलिए प्रेरित करनेवाली कविता का अर्थस्तर बहुत व्यापक होता है। उदासी के खिलाफ अपनाया गया शब्द कि-

*“अपनी आदतों में / फूलों की जगह पत्थर भरो / मासूमियत के  
हर तकाजे को / ठोकर मार दो / अब वक्त आ गया है कि तुम  
उठो / और अपनी ऊब को आकार दो।”<sup>(1)</sup>*

यह एक संकल्प का स्वर है जिसके आगे रास्ता खुला हुआ है कि उदासी के खिलाफ उठाया गया कदम कभी व्यर्थ नहीं होता है। उन करोड़ों मनुष्यों से, जो लगातार हास्यास्पद हो रहे हैं, कविता उठ खड़े होने की माँग

---

1. धूमिल - संसद से सड़क तक प्र.सं. 1972 - पृ. 124

करती है। तानाशाहियों के प्रतिपक्ष में खड़े होकर सामाजिक न्याय से वंचित मनुष्यों को अपनी स्थिति में बदलाव लाने की प्रेरणा कविता की प्रतिरोधी मनोभूमि को उजागर करती है। जाहिर है कि अपने इच्छित यथार्थ को समकालीन कविता ने जनवादी दृष्टि के रूप में प्रस्तुत किया है। देवी प्रसाद मिश्र की कविता 'जो बीज की तरह सचल है' हाशिए पर रहते मनुष्यों के पक्ष में रहकर कविता उनके साहस के साथ होने के संकल्प को दर्ज कर रही है।

“जो मुझे भाषा देता है / जो मुझे दस हज़ार साल पुराने / उबलते गाढ़े रक्त से जोड़ता है / जो मुझे सहने की ताकत / और न सहने का विवेक देता है / जो नदियों के साथ रिश्तों को पुनर्स्थापित करता है / इतिहास के मरणान्तक शीत और सूखे में / जंगली घास जो जीवित रहता है / जो काली खदान में हीरे की तरह चमकता है / इस काली दुनिया में ऐसे ही आँच के / मैं सम्मुख होना चाहता हूँ।”<sup>(1)</sup>

यह ऐसे मनुष्यों के पक्ष में खड़ा होना है जिनके साथ दबाव का पूरा इतिहास सम्मिलित है। उनकी अनगिनत व्यथाओं के साथ रिश्ता जोड़ते हुए उनके सहने की ताकत और न सहने का विवेक पाना आकरण नहीं है। यह विडम्बनाओं के बीच निरन्तर क्रियाशील रहनेवाले, निरन्तर लड़ने रहने वाले मनुष्य के पक्ष में खड़े होकर प्रतिरोध दर्ज करने का संकल्प है। उनके साहस पर भविष्य निर्भर है -

---

1. देवी प्रसाद मिश्र - प्रार्थना के शिल्प में नहीं, प्र.सं. 1989 - पृ. 9

“एक तहखाना है जो कारखाना है / जहाँ लाशें बन रही है / जहाँ  
लाशें खत्म हो रही है / मैं वहाँ होना चाहता हूँ।”<sup>(1)</sup>

निरन्तर मिटते रहने के बावजूद न मिटने का संकल्प आम आदमी की अपनी पहचान है। रौंद दिये जाने पर भी पुनः बनने की अदम्य ताकत मनुष्य में निहित है। कविता अपनी प्रतिरोधात्मकता में मनुष्य के इसी अटूट साहस को दर्ज करती है। समकालीन कविता मनुष्य के इस साहसी मन को केन्द्र में रखकर भविष्य की कविता बना रही है। साहस मुख्य है। ऐसे में लीलाधर जगूडी मौजूदा मनुष्य विरोधी समय में भय को साहस के रूप में बदलने की आकांक्षा को दर्ज करते हैं। विजयकुमार ने संकेत किया है कि “समकालीन दुनिया में भय का यह एक अप्रत्याशित परिप्रेक्ष्य है। एक ऐसी दुनिया में जहाँ शक्ति को हथियाना और उसका हिंसक प्रदर्शन ही सबसे बड़ा सच बनने लगा हो, कमज़ोर आदमी का मनोविज्ञान एक अलग तरह का रूप आख़्तियार कर रहा है। रघुवीर सहाय की तरह लीलाधर जगूडी भी अपनी कविताओं में ताकत और भय के जटिलरिश्तों को खोजते हुए मौजूदा समय का विश्लेषण करना चाहते हैं।”<sup>(2)</sup> ‘डरी हुई आत्मा’ की पंक्तियाँ हैं -

“हो सकता है आप भी एक डरी हुई आत्मा हो / मेरी तरह  
सशरीर एक डरी हुई आत्मा हो / क्योंकि जो हैं वे भय के कारण  
ही साहसी है / मैं आपका स्वागत करता हूँ / ताकि थोड़ा ही सही  
साहस कहीं देखें।”<sup>(3)</sup>

- 
1. देवी प्रसाद मिश्र - प्रार्थना के शिल्प में नहीं, प्र.सं. 1989 - पृ. 9
  2. विजयकुमार - कविता की संगत, पु.मु. 1996 - पृ. 86
  3. लीलाधर जगूडी - भय भी शक्ति देता है, ती.सं. 2003 - पृ. 27

दहशत मौजूदा गलत समय की सार्वजनिक पहचान है। इसको साहस में तब्दील करने का उपक्रम अपने आप में महत्वपूर्ण है। जो भी मूल्यवान है उसकी तबाही हो रही है, जो भी सुख है उन्हें किसी भी वक्त खोने का डर है, इसी खोने के भय से साहस जन्म लेता है। अतः भय को संघर्ष का उत्स बनना है। यहाँ अपने समय की सार्वजनिक पहचान को प्रतिरोध में बदलने का संकल्प दर्ज हुआ है। मनुष्य की अपराजेयता के प्रति अटूट आस्था इसमें द्रष्टव्य है। तानाशाही के खिलाफ हुए अनवरत संघर्षों के प्रति आशावादी दृष्टि भी यहाँ स्पष्ट है। समकालीन कविता ऐसे मनुष्यों को केन्द्र रख रही है जो अटूट आस्था का परिचय दे रहे हैं। राजेश जोशी ऐसे नट को उभार रहे हैं जिनकी बाँसों को दीमकें खा चुकी है, जिसका सारा बदन भूख खा चुकी है, जब वह खेल शुरू करता है तब यम के भैंस के खुरों की आवाज़ आ रही है। फिर भी वह खेलने के लिए अभिशप्त है। भूख उसकी समस्या है इसलिए खेल उसकी मजबूरी है। जब वह अपनी ज़िन्दगी के साथ लड़ रहा है तब उसकी लड़ाई पूरे शोषणतन्त्र के खिलाफ हो रही है। यह लड़ाई भी उसका उम्मीद है कि

“मैं जर्जर रस्सी पर नहीं बाबू / भरोसे की डोरी पर चलता हूँ दिन रात।”<sup>(1)</sup>

यहाँ उम्मीद की डोरी पर चलने वाला मनुष्य केन्द्र में हैं। यही मनुष्य समकालीन कविता की उम्मीद है। कुमार अम्बुज की कविता 'कि' अपने समय में अस्सी प्रतिशत की आबादी की विवशताओं का बयान दे

---

1. राजेश जोशी - नेपथ्य में हँसी, प्र.सं. 1994 - पृ. 13



रही है। वह सरे आम लूट का शिकार हो रहा है। हर बार वह अपने आपको धोखे में पाता है। हमारे समय की सबसे बड़ी त्रासदी भी यही है। त्रासद एहसास तक कविता सीमित नहीं है। इसमें उम्मीद का स्वर मुखर है।

“दुनिया को बदलनेवाले लोगों का एक दल / हर काल में होता आया है / कि आज की यह तसवीर ही / संसार की आखिरी तस्वीर नहीं है।”<sup>(1)</sup>

मानवीय आस्था को केन्द्र बनाया गया है। हर काल में मनुष्य ने अपनी असहमति प्रकट की है। इतिहास के किसी न किसी मोड़ पर इस असहमति ने सामाजिक संघर्ष का रूप भी लिया है। दबाने की तमाम कोशिशों के बावजूद अपने विरोध को दर्ज करते हुए स्थिति में बदलाव लाने का प्रयास हुआ है। आज भी मनुष्य में निहित प्रतिरोधी ऊर्जा नष्ट नहीं हुई है। इसी एक उम्मीद को कविता दर्ज कर रही है।

कात्यायनी लिखती है कि शान्ति की गुहार से अन्धेरे की हिंसक शक्तियों को बल ही मिल रहा है। कविता को मुखर होकर क्रान्तिकारी हिंसा और क्रान्तिकारी युद्ध का पक्ष लेना होगा।<sup>(2)</sup> समकालीन कविता के जनवादी चरित्र में प्रतिहिंसा भी एक पक्ष है। चन्द्रकान्त देवताले अपने समय की विडम्बनाओं के खिलाफ आज भी अपनी प्रखर दृष्टि को बनाए हुए हैं। ‘इस कविता का केन्द्रीय शब्द है हिंसा’ इस में अपने कवि कर्म को पारिभाषित करनेवाले कवि ‘इत्ते अन्धेरे में’ कविता में क्रान्ति की आकांक्षा को पाले हुए है। कविता में एक आत्मालोचना का स्वर मुखर है कि

1. कुमार अम्बुज - अतिक्रमण, प्र.सं. 2002 - पृ. 82

2. सं. डॉ. ए. अरविंदाक्षन - कविता का यथार्थ, प्र.सं. 2003 - पृ. 85

“भय आतंक और असुरक्षा में फँसे लोगों के बीच / जब पहुँच जाता हूँ दबे पाँव / मुझे लगता है कि मैं एक विराट बन्दीगृह में खड़ा हूँ।”<sup>(1)</sup>

मनुष्य को बेहद असुरक्षित हालत में पाकर उसमें बदलाव लाने में असमर्थ पाकर एक विवशता के स्वर को व्यक्त किया गया है। समाज की आत्मकेन्द्रिता पर भी अफसोस जाहिर किया गया है।

“सफलता सबसे कमीनी और बदतर चीज़ है ज़िन्दगी में / क्योंकि उस तरफ मैं देख रहा हूँ / दहाड़ने के बदले शेर बन्दूक को चाट रहा है / तेंदुआ झपटना छोड़ / असाध्यवीणा की तरह खड़ा है / बिच्छू का डंक भी अपनी जगह पर नहीं है।”<sup>(2)</sup>

व्यापक तौर पर प्रतिरोधी कदम केलिए वक्त आ गया है फिर भी सब अपने में सीमित है। ऐसे अन्धरे समय में भी कविता में निराशा केलिए जगह नहीं है। क्रान्ति और परिवर्तन निकटवर्ती नहीं है फिर भी वह नामुमकिन नहीं है क्योंकि वे भविष्यवाणियों को सुन रहे हैं -

“सिर्फ वहाँ थोड़ी सी रोशनी है इत्ते अन्धरे में / जहाँ छीना झपटी करते हुए गुत्तमगुत्था कुछ बच्चे / खाने की किसी चीज़ केलिए चीख चीखकर झगड़ रहे हैं / जिन्हें देखकर लगता है झमाझम बरसात में / भींगते पत्थर राष्ट्रीय गीत गाते हुए नाच रहे हैं / पत्थरों के इसी संगीत में मुझे / कुछ भविष्य वाणियाँ सुनाई दे रही हैं...”<sup>(3)</sup>

1. चन्द्रकांत देवताले - उजाड़ में संग्रहालय, प्र.सं. 2003 - पृ. 155

2. वहीं

3. वहीं

रोटी के लिए झगड़ते बच्चों में वे भविष्य देख रहे हैं। अभावग्रस्तता की खाई में धकेल दी जाते वाली अन्धेरी ताकतों के खिलाफ उनकी चीख मुखर होती है। कविता में भविष्य की तस्वीर साफ है। समकालीन कविता में स्थितियों को बदल पाने की एक संकल्पशक्ति निहित है।

### आत्मकेन्द्री संस्कृति के खिलाफ

वर्तमान नवऔपनिवेशिक माहौल में भोगवादी सभ्यता ने नागरिक बोध को, सोचने की क्षमता को ग्रस लिया है। वह आत्मकेन्द्रित होकर जड़ता की पहचान दे रहा है। मनुष्य विरोधी समय की साजिशों से कतराते हुए भोगलिप्सा में जकड़ी हुई झुंड संस्कृति प्रतिक्रिया विहीन हो रही है। यह मानसिक गुलामी खतरनाक साबित हो रही है कि अनैतिकता बल पकड़ रही है। ऐसे सामाजिक समय में राजेशजोशी की कविता 'मसखरे' मसखरों के ज़रिए प्रतिक्रियाविहीन समाज की जड़ता को तोड़ना चाहती है। अपने-आपको हास्यास्पद स्थिति में पाने वाले मसखरे हर काल में हुआ करते थे कि काल की सीमाओं के आर पार अनन्त यात्रा करते हुए अभी यहाँ भी पहुँचे हैं। रोज़ी रोटी के लिए मसखरे बनने के लिए विवश मनुष्य का यथार्थ अनावृत होता है एक ओर अपनी ज़िन्दगी की विकलताओं को रंगों के भीतर छिपाकर रखते हैं, दूसरों को हँसानेवाली हँसी को भी ओढ़ते हैं दूसरी ओर अपनी इस विवशता में छिपी ताकत को भी पहचान पा रहे हैं कि-

*“रंग और लिबास की आड में / एक सच बोल जाते हैं अचानक /  
जिसका चलन बहुत कम रह गया है हमारे समाज में बहुत कम /*

मसखरे ही कस सकते हैं फब्तियाँ इस तरह अन्याय पर / उघाड सकते हैं वे ही अन्यायी का चेहरा / इस तरह हँसी हँसी में”<sup>(1)</sup>

मसखरों की हँसी की यह प्रतिरोधी ताकत है। यथार्थ से कतरानेवाली सामाजिकता सत्ताधारियों की अमानवीयताओं को भी अनदेखा करती है। यह उनकी अपनी सुरक्षा की समस्या है। यहाँ मसखरे हँसी हँसी में अमानवीय चेहरों को नंगा कर रहे हैं। ‘श्रेष्ठि जनों के चेहरे अपनी झेंप छिपाते हुए मुस्कुराने का प्रयास करते हैं।’ उनके सारे तामझाम समाज के सामने अनावृत होते हैं। लेकिन इससे दुनिया के सेहत पर कोई फर्क नहीं पडता। फिर भी यहाँ निराशा का नहीं बल्कि आस्था का परिचय दे रहे हैं। यथार्थ को यथास्थिति समझकर अपने साहस को खोने के लिए या अन्यायी के चेहरे को उघाडने के मौके को खोने के लिए वे तैयार नहीं हैं। अपनी मजबूरी का भी फायदा उठा कर वे अपनी निडरता को बनाये रखते हैं -

“सुधि फिर भी उनकी बिसराये नहीं; बिसराये नहीं / लम्बी और कठिन यात्राएँ करते हुए / आये हैं ये मसखरे / आये हैं हमें / हमारी हँसने की ताकत का / फिर से स्मरण कराने।”<sup>(2)</sup>

प्रतिक्रियाविहीन समाज से एक आत्मनिरीक्षण की माँग कविता में सहज ही परिलक्षित है। राजेशजोशी की कविता नेलकटर’ इसी मानसिक उपनिवेशवाद के खतरे की ओर संकेत करती है। कविता की प्रारंभिक पंक्तियाँ हैं कि ‘यह नेलकटर बरसों से हमारे घर में है पुश्तैनी भी कहा जा

1. राजेश जोशी - नेपथ्य में हँसी, प्र.सं. 1994 - पृ. 29

2. वहाँ - पृ. 29

सकता है इसे'। इस पुश्तैनी चीज़ का असर सामान्य नहीं है। यह उनकी संस्कृति का हमारी संस्कृति पर हावी होना है। उन्हीं की नज़र से अपने आपको देखते हुए स्वयं हास्यास्पद होने की विडम्बना की ओर कविता में संकेत हैं। नेलकटर जैसी मामूली चीज़ भी साम्राज्यवादी संस्कृति का अंग बनकर भारतीय मध्यवर्ग पर हावी हो रही है कि 'बाबा इसी से अपने नाखून काटते थे, वो वक्त के पाबन्द थे और गुरवार को हजामत नहीं बनवाते थे, तो कभी भी नंगे सिर घर से बाहर नहीं निकले कोई पाँव घसीटकर चलता या चप्पल बजाकर तो वो बहुत गुस्सा होते, इतना दबदबा था उनका कि उनके जीते जी माँने कभी बाहर का छज्जा नहीं देखा वो नवाब के मातहत थे और अचकन पहनते थे, आज़ादी की लड़ाई में वो कभी जेल नहीं गये। नेलकटर जैसे मामूली चीज़ के पुश्तैनी होने का अन्जाम कि उनकी यानी साम्राज्यवादियों की जीवनशैली ही नहीं दूसरों पर रोब जमाने की शासकीय संस्कृति भी हावी हो रही है। इसके बाद की दो पीढ़ियों का भी यही यथार्थ है कि

“एक बार गाँधीजी जब बाहर से गुज़रे / वो उन्हें देखने स्टेशन तक गए थे / कहते हैं इस पर घर में बहुत बवाल मचा / चोरी से खरीदा खादी का वो कुरता पाजामा / उस दिन के बाद उन्होंने कभी सोते समय भी नहीं पहना / उन्होंने कभी किसी से ऊँची आवाज़ में कुछ नहीं कहा / कुछ दिनों बाद वो अंग्रेज़ों की छावनी में / स्टोरकीपर हो गए / और आज़ादी के बाद सरकारी खजाने में / बडे-बाबू के पदपर नियुक्त हुए / \* \* \* \* / नेलकटर बरसों में हमारे घर में है / अब मैं इसी से अपने नाखून काटता

हूँ / फाइल पर घिसकर गोल करता हूँ / बची खुची नोकें / मुझे  
याद नहीं, कितने बरसों से मैं ने / किसी से 'नही' नहीं कहा!"<sup>(1)</sup>

आज़ादी के पूर्व और बाद भी मध्यवर्गीय समाज की यही आम पहचान है। सामाजिक प्रतिष्ठा व हैसियत उनकी एकमात्र चिन्ता है। परिणामस्वरूप मानसिक गुलामी से उसे युक्ति नहीं मिलती है यहाँ कविता में कहा गया है कि 'नेलकटर से नाखून काट रहा हूँ/फाइल पर घिसकर गोल करता हूँ बची-खुची नोकें। इस तरह अपनी प्रतिरोधी ऊर्जा से या संभावना से हाथ धो रहे हैं। मानसिक गुलामी के इतने आदि हो गए हैं कि यह अन्दाज़ा लगाना नामुमकिन है कि देश की गुलामी के लिए जन साधारण की वर्तमान हालात के लिए वे ही ज़िम्मेदार हैं।

### प्रतिरोध का परिस्थितिकी संदर्भ

प्रगति के लिए विकास अनिवार्य है। विकास के मूल में मनुष्य की प्रगति ही मापदंड है। यह विकास की अपनी नैतिकता है। वर्तमान नवसाम्राज्यवादी दौर में मुनाफाखोर नव पूँजीवाद के तहत अन्धाधुंध विकास योजनाएँ लागू हो रही हैं। दूरदर्शिता के अभाव में करोड़ों जनसाधारण को अनदेखा करते हुए प्राकृतिक संसाधनों का अन्धा दोहन हो रहा है। पूरी तीसरी दुनिया को मण्डी बनाते हुए मुनाफे के लिए उत्पादन की प्रक्रिया को तेज़ बना रहे हैं कि पर्यावरण का सन्तुलन बिगड रहा है, परम्परागत कृषि व्यवस्था बिगड रही है और जातीय संस्कृति ध्वस्त हो रही है। अस्सी प्रतिशत की आम आदमी की परिवाह किए बिना विकास की योजनाएँ

---

1. राजेश जोशी - दो पंक्तियों के बीज, प्र.सं. 2000 - पृ. 56, 57

अपनायी जा रही है। विकास और सामाजिक न्याय के बीच आज कोई सरोकार नज़र नहीं आ रहा है। इसी सन्दर्भ में गाँधी का मशीन विरोध प्रासंगिक हो जाता है। शंभूनाथ के शब्दों में गाँधी मशीन के आलोचक थे। उनकी मशीन की आलोचना पाश्चात्य सभ्यता की आलोचना थी। ....पाश्चात्य सभ्यता की नज़र में मनुष्य वस्तु है, उसे उपयोगी न होने पर फेंका जा सकता है। गाँधी देख रहे थे कि मशीन बेरहमी से श्रम जीवियों को फेंकती है, उन्हें विच्छिन्न एवं असहाय कर देती है।”<sup>(1)</sup> गाँधी के सभ्यता विमर्श के केन्द्र में आम आदमी थे। जनसाधारण के मूल से उखड़ने वाली विकासनीति का उन्होंने विरोध किया।

गाँधी के इसी विकास विरोध की विरासत को आगे बढ़ाने वाले हैं सुन्दरलाल बहुगुणा, मेधा पटकर आदि। टिहरी बाँध योजना के खिलाफ चलाये गए चिपको आन्दोलन के प्रवर्तक सुन्दरलाल बहुगुणा का कहना है कि “अब विचार करें कि विकास क्या है? क्या यह सामान्य लोगों के ज़िन्दा रहने के लिए होना चाहिए या थोड़े लोगों की विलासिता के लिए? वे विकास को आर्थिक वृद्धि के साथ जोड़ते हैं और आर्थिक वृद्धि अभिजात्य वर्ग का भगवान है। इसलिए इस बाँध के माध्यम से हम सारी विकास नीति के खिलाफ लड़ रहे हैं। यह प्राकृतिक न्याय के विरुद्ध है, क्योंकि हर एक जीवनधारी को इसके इर्द गिर्द प्रकृति ने जो कुछ दिया है उस पर ज़िन्दा रहने का जन्मसिद्ध अधिकार है।”<sup>(2)</sup> आज जगह-जगह होनेवाली बाँध योजनाओं के खिलाफ आन्दोलन चल रहे हैं। यह विकास विरोध नहीं है

---

1. शंभु नाथ - नैतिकता के नए सवाल - पृ. 48

2. सुन्दरलाल बहुगुणा - धर्ती की पुकार, प्र.सं. 1996 - पृ. 18

बल्कि विकास के मनुष्यविरोधी रूख के खिलाफ का प्रतिरोध है। ऊर्जा परियोजना के नाम पर होनेवाली बाँध योजनाओं से एक ओर सारी सुविधाएँ उच्चवर्ग के लोगों के अनुकूल है। जनसाधारण तक सुविधाएँ पहुँचती ही नहीं बल्कि अपनी ज़मीन से विस्थापित होने के लिए बाध्य हो जाते हैं, विस्थापन से जुड़ी तमाम त्रासदियों को भी झेलनी पडती है। इसी जन विरोधी रूख के खिलाफ मेधा पटकर भी गाँधी की राह से चल रही हैं। यहाँ कुछ व्यक्तियों का नाम गिनना लक्ष्य नहीं बल्कि उनके इस प्रयास में निहित जनहित को प्रश्रय देना है। वे जनसाधारण को उनकी सही स्थिति से अवगत करा रहे हैं। इसी अर्थ में विकल्प के रूप में हम गाँधी का या उनकी विरासत को आगे बढ़ाने वालों का नाम ले रहे हैं।

ज्ञानेन्द्रपति की कविता 'नदी और साबुन' पारिस्थितिकी सन्दर्भ में विचारणीय है। गंगा को केन्द्र बनाकर विकास के नाम पर उजडते पर्यावरण समस्या की ओर संकेत किया गया है। आज हमारी प्रकृति अन्धाधुंध विकास योजनाओं की शिकार है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के अन्धाधुन्ध उत्पादन की होड में प्राकृतिक संसाधनों का विरूपीकरण हो रहा है। कविता में साबुन भोगवादी सभ्यता और विकास का प्रतीक है जिसके कारण प्राकृतिक सम्पदाएँ बिगड रही है। कविता में संकेत है कि-

*“गंगा का जी का पता है / अपने जलजीवों के लिए / और अपने  
उन थलजीवों के लिए भी / जिनके कंठ की प्यास बुझाने से भी  
आगे बढ़कर / भीतर की कोई गहरी व्यास तिरपती रही है गंगा /  
और कल की उसकी अमरित - बूँद आज / चंगे को बीमार*



करनेवाली / और बीमार केलिए तो / सचमुच मोक्षदा साबित होनेवाली अकाल ही।”<sup>(1)</sup>

यह वर्तमान विकास की सहज परिणति बन रही है। विकास को चरम लक्ष्य मानकर चलने की अन्धी होड में मनुष्य के ज़िन्दा रहने का अधिकार तक को छीन लिया जा रहा है। पर्यावरण को बिगाडना मनुष्य को खतरनाक स्थिति में डालना है। कविता विकास और मनुष्य के बीच के सरोकार पर सोचने केलिए बाध्य करती है।

### साम्प्रदायिक राजनीति के खिलाफ प्रतिरोधी विकल्प की तलाश

वर्चस्ववादी तानाशाही हरकतों के खिलाफ हर काल में विरोध दर्ज हुआ है। आत्मकेन्द्री सांस्कृति के रहते समझौतावादी होनेवालों के बीचों-बीच उसका उल्लंघन करते हुए अपनी असहमति को दर्ज करने का साहस, मनुष्य ने दिखाया है। इसमें कबीर का नाम मुख्य है। धर्म और राजनीति के बीच के गठबन्धन ने आज फासीवाद का रूप ले लिया है। धार्मिक उन्माद के तहत मनुष्य पर साम्प्रदायिक मनोवृत्ति हावी हो रही है कि वह मनुष्य को मनुष्य के रूप में देख नहीं पा रहा है। यानी मनुष्य का निरन्तर अवमूल्यन हो रहा है। ऐसे समय में धर्म से परे मानवीयता पर आस्था रखने केलिए प्रेरित करनेवाले कबीर की प्रासंगिकता असंदिग्ध है। अपने समय में हिन्दू और मुस्लिम दोनों धर्मों की रूढियों और कट्टरवादिता के खिलाफ असहमति दर्ज करते हुए मानवीयता पर अटूट आस्था रखनेवाले कबीर अपने में विकल्प बन गए हैं। वे केवल विरोध को प्रकट करते ही नहीं

---

1. ज्ञानेन्द्रपति - गंगातट, प्र.सं. 2000 - पृ. 22

बल्कि मानवीयता के विकास के लिए संघर्षरत भी रहे। मानैजर पाण्डेय के शब्दों में “कबीर की मूलगामी आलोचना दृष्टि केवल प्रश्न करने तक सीमित नहीं है, क्योंकि वे केवल असहमति और विरोध के कवि नहीं है। उनकी दृष्टि समाज में मनुष्यत्व की भावना विकसित करने के लक्ष्य पर रहती है। ...कबीर समाज में मनुष्यत्व के विकास के लिए हृदय के धर्म अर्थात् मानवीय भावों को लोकधर्म बनाने पर जोर देते हैं, इसलिए वे एक ओर ईर्ष्या, क्रूरता, कामुकता, कपट, अहंकार आदि की आलोचना करते हैं तो दूसरी ओर प्रेम, करुणा, दया, उदारता अहिंसा और समता का विकास करते हैं।”<sup>(1)</sup> मनुष्य को मनुष्य के खिलाफ करने वाले तमाम षडयन्त्रों के खिलाफ कबीर ने निषेधात्मक रूख अपनाते हुए समझौता रहित संघर्ष किया। कबीर की कविता साहस की कविता है। अटूट आस्था की कविता है।

वर्तमान मनुष्यविरोधी समय में उसको नष्ट करने पर तुले हुए षडयन्त्रों के खिलाफ साहसशील होने की प्रतिबद्धता के तहत समकालीन कवि विजयदेवनारायण साही कबीर से प्रेरणा लेना चाहते हैं। ‘प्रार्थना गुरु कबीरदास के लिए’ कविता कबीर से साहस की माँग करती है। रौंदे जानेवाले मनुष्यों के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट करने के लिए कबीर से बिनती है कि ‘दो तो ऐसी विनम्रता दो कि अन्तहीन सहानुभूति की वाणी बोल सकूँ और अन्तहीन सहानुभूति पाखण्ड न बने।’ यहाँ किसी का भी भरोसा नहीं है। अपने आप में सीमित होकर सुविधाभोगी रहनेवाले समाज

---

1. आलोचना त्रैमासिक - अप्रैल-जून 2000 - पृ. 277

में सहानुभूति भी पाखण्ड बन सकती है। अतः कवि यहाँ कबीर से प्रेरणा लेना चाहते हैं। अपमान, महत्वाकांक्षा और भूख की गाँठों में मरोड़े हुए लोगों का माथा सहलाने के लिए कबीर जैसी निडरता की माँग करते हैं। मनुष्य को बेहद असुरक्षित पाकर भी अपनी सुरक्षा की चिन्ता में पडे प्रतिक्रियाविहीन समाज में अन्याय को उघाडने की निर्भीकता माँगते हैं

“दो तो ऐसी निरीहता दो / कि इस दहाडते आतंक के बीच / फटकार कर सच बोल सकूँ / और इसकी चिन्ता न हो / कि इस बहुमुखी युद्ध में / मेरे सच का इस्तेमाल / कौन अपने पक्ष में करेगा।”<sup>(1)</sup>

जनता के प्रति अपनी प्रतिबद्धता को बनाए रखने के लिए अन्तहीन साहस की माँग कबीर से करते नज़र आते हैं। मनुष्य पर आतंक जमानेवाली ताकतों के खिलाफ कदम रखते हुए उनके गिरोह को तोडने का संकल्प दर्ज हुआ है। इसके लिए कबीर की आलोचनात्मक दृष्टि, साहस, मानवीयता पर अटूट आस्था की बिनती की गयी है। यह वर्तमान समय में ऐसे कबीर की खोज है जिसका स्वर एक साथ ललकार और प्रेम का है साथ ही “जिसके काव्य में उस समय की जटिल स्थिति का बोध है और उसके बीच से अपनी स्वतन्त्र दृष्टि और नई राह बनाने का साहस, संकल्प और विवेक भी है।”<sup>(2)</sup>

केदारनाथ सिंह की कविता ‘उत्तर कबीर’ वर्तमान के केन्द्र में कबीर को रखते हुए समय के आतंक के प्रति कबीर की प्रतिक्रियाओं का

1. विजय देवनारायण साही - साखी, दू.सं. 1994 - पृ. 146

2. आलोचना - अप्रैल-जून 2000 - पृ. 276

आकलन करती है। वर्तमान समय की समस्याओं से कबीर गुज़र रहे हैं। ऐसा कहना ही ठीक होगा कि उस कबीर की दृष्टि से अपने समय का आकलन कवि कर रहे हैं जिन्होंने कहा था 'सुखिया सब संसार है, खावे और सोवें / दुखिया दास कबीर है, जागे और रावें'।

कबीर की यह अनिद्रा गहरी बेचैनी की उपज है। पूरी कविता में यह बेचैनी मुखर है। कविता के केन्द्र में एक कताई मिल है जो लगभग बन्द पडी है जो इस लक्ष्य से बनाया गया था कि बुनकर बहुल क्षेत्र में करघों को सूत मिल सके और उसको कबीर का नाम दिया गया है। कबीर की प्रासंगिकता आज दलित सन्दर्भ में भी उल्लेखनीय है शंभूनाथ के शब्दों में। "कबीर उस समय जो कुछ सोच और कह रहे थे, उसके पीछे दलितों का सदियों से दबा आक्रोश था और लोक संस्कृति की शक्ति थी।<sup>(1)</sup> कबीर ने जिन दलितों के लिए आवाज़ उठायी उसमें जुलाहे और चमार आदि शामिल थे। यह लडाई भी दो स्तरपर लडी गयी थी जातिगत और आर्थिक। जुलाहों, चमारों की लडाई बुनकर मजबूरों की लडाई थी। पूरी श्रम संस्कृति की लडाई थी।

कविता में कबीर देख रहे हैं कि 'आमी और दुनिया के बीच जानी और बानी के जितने रास्ते थे सब बन्द है।' कबीर ने अपने समय में 'धर्म और बाज़ार के प्रत्यक्ष आकर्षण के बावजूद शोषण के अदृश्य जाल को जान चुके थे।' आज पुनः इनका गठजोड मजबूत है कि शोषण भी जारी है। विकास की बाढ में 'दर्जी सुई की नोक में खो गया है, कुम्हार मिट्टी

---

1. आलोचना - अप्रैल-जून 2000 - पृ. 305

के ढेले में गुम हो गया है बढई चिरती हुई लकड़ी की गंध में लोप हो गया है, पथेरा अपने साँचे में गायब हो गया है।' कबीर की वेचैनी भी प्रकट हुई है कि

“और हैरान हूँ मैं कि अब भी देखता हूँ / एक अजब सी पीडा /  
और एक हलकी सी उम्मीद के साथ / उधर जिधर एक तने हुए  
दागे के सिरे पर / एक रुका हुआ हाथ / और एक झुकी हुई  
फिरकनी / दोनों अनजान से / आमने-सामने खडे हैं / वे इसी  
तरह खडे हैं / कितने दिन / कितनी सदियों से / क्योंकि सूत  
नहीं है मगहर में।”<sup>(1)</sup>

आज भी दलित-मजदूर शोषण के शिकंजे में है। कबीर ने अपने समय की तानाशाही को चुनौती देते हुए बुनकर मजदूरों की मुक्ति की लड़ाई लड़ी थी। फिर भी मध्यकाल से उत्तर-औद्योगिक यात्रा तय करने में बावजूद शोषण जारी है। आज भी 'सूत' नसीब नहीं होती बुनकर मजदूरों को। अन्धाधुंध विकास के समय में भी मजदूरों की बद्दहालती ज्यों ही बनी हुई है। कविता में संकेत हैं कि 'दिल में और दिल्ली में सूत नहीं है।' वर्तमान राजनीति का यथार्थ भी यहाँ खुल रहा है। शासकों के अपने स्वार्थों के रहते यहाँ एक विकलांग विकासवाद पनप रहा है कि 'सबकुछ है सिर्फ समूचापन झड गया है।' एक समग्रतावादी दृष्टि के अभाव के कारण ही शोषित निरन्तर शोषित रह रहे हैं। कबीर की सारी लड़ाई हास्यास्पद हो रही है स्वयं कबीर भी।

---

1. केदारनाथ सिंह - उत्तर कबीर, प्र.सं. 1999 - पृ. 138

सोचता हूँ कितना अजीब है / लम्बे समय बाद अपने शहर के  
होठों पर / घिस-घिसकर एक नाम बन जाना / अपनी भाषा के  
छिट्टों से छनते-छनते / लोगों की स्मृति में / एक कथा बन  
जाना / एक रूपक बना जाना / कितना भयावह है / और फिर  
एक दिन उस सबका / चुपके से बदल जाना कबीर सूत मिल में /  
कितना शानदार है / और कितना दयनीय।”<sup>(1)</sup>

धर्म और राजनीति की मिली भगत में पनपते अर्थिक सामाजिक शोषण के खिलाफ साहस और संकल्प के साथ अपने विद्रोह को दर्ज करने वाले कबीर भी वर्तमान की आपाधापी में एक नाम में, कथा में या रूपक में सीमित हो गए हैं। कबीर अब कबीर सूतमिल में सीमित है। प्रतिक्रियाविहीन समाज में कबीर को भी अप्रासंगिक बनाकर देखने की विद्रूपता की ओर संकेत है। वे भूलते हैं दलित-पीडित मजदूरों के लिए हमेशा संघर्षरत रहने वाले, अपनी संकल्पधर्मी चेतना का परिचय देनेवाले कबीर स्वयं विकल्प है। उसने अवगत कराया था कि ‘हर आदमी की जेब में धीमे-धीमे बजती है हर आदमी की मुक्ति की एक छोटी-सी कुंजी।’ आर्थिक शोषण के खिलाफ उठायी गयी यह आवाज़ है। कविता में मुक्ति की राह भी बतायी गयी है जो कबीर की खास पहचान है-

“पर यह जो मुक्ति है / अगर उस तरह देखो / जैसे अपनी  
आवाक् गरिमा में देखते हैं पत्थर / या देखते हैं पेड़ / तो क्या  
है क्या है / अपने नरक की आँखों में / आँखें डालकर /  
अपलक-अटूट खड़े रहने के अलावा?”<sup>(2)</sup>

1. केदारनाथ सिंह - उत्तर कबीर, प्र.सं. 1999 - पृ. 138

2. वहीं

कबीर ने तमाम साजिशों के खिलाफ इसी निर्भीकता का इस्तेमाल किया था। इसी साहस में मुक्ति है। कबीर ने साहस ओर संकल्प के रहते अपने आपको समझौतों से अलग रखा। इसी अर्थ में कबीर वर्तमान की भी प्रेरणा बनते हैं। शंभूनाथ का कथन यहाँ उल्लेखनीय है कि “कबीर का अर्थ खोजने की कोशिश करते ही बाज़ार तुरन्त हमारे समय में तब्दील हो जाता है। कबीर के अर्थ की खोज बाज़ार से अपने समय में हमारी वापसी है, अपने समाज में हमारी वापसी है, अपनी भाषा में हमारी वापसी है और यह बुझी हुई लुकाठियों का फिर सुलग उठना है।”<sup>(1)</sup> वर्तमान नवऔपनिवेशिक व हमारी अन्दरुनी मनुष्यविरोधी साजिशों के खिलाफ कबीर की प्रतिरोधी परम्परा से अपने को जोड़ने का प्रयास समकालीन कविता कर रही है।

### स्त्री के शिल्प में अभिव्यंजित उत्पीडित मनुष्य का प्रतिरोध

अनामिका ने लिखा है कि “वैयक्तिक यातनाओं का सामाजिक सन्दर्भीकरण उनके प्रतिकार का एक आजमाया हुआ अस्त्र है। तकलीफ खतरनाक चीज़ होती है। उससे यह उम्मीद नहीं करनी चाहिए कि वह अनन्तकाल तक अन्धेरे कोनों के मुंह लपेटे पडी रहेगी... आदमी का स्प्रिंग तत्व उसे एक सीमा के बाद दबने नहीं देता, और जितनी ज़ोर से स्प्रिंग रखता है, उतनी ज़ोर से उछलता भी है। पर स्त्रीवाद की उछल कूद के निरी प्रतिक्रियावाद से जोड़कर देखना भी एक गहन राजनीतिक षडयन्त्र है जिससे हम आज तक उबर नहीं पाए।”<sup>(2)</sup> यह एक स्त्री की भाषा में तमाम

1. शंभूनाथ - दुस्समय में साहित्य, प्र.सं. 2002 - पृ. 19

2. अनामिका - स्त्रीत्व का मानचित्र, प्र.सं. 1999 - पृ. 9

स्त्रियों की सदियों की नियति के खिलाफ दर्ज हुआ प्रतिरोध है। स्त्री लेखन मात्र अनुभववाद में सीमित नहीं है। अब तक पुख्ता हुए तमाम सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक षडयन्त्रों के खिलाफ अपनी प्रतिक्रिया दर्ज करते हुए, पुरुषाधिष्ठित समाज की अधिकारग्रस्तताओं के बीच अपनी जगह दर्ज करते हुए मानवीय मूल्यों पर आधारित समाज की स्थापना इस नए विमर्श का लक्ष्य है। अधिकार केन्द्रीकरण के तमाम सन्दर्भों के प्रति निषेधात्मक रूख अपनाते हुए, स्त्री-पुरुष समानता की नहीं सम्पूर्ण मानव की समानता के लिए आवाज़ उठानेवाले एक सांस्कृतिक विमर्श के रूप में नारीवादी लेखन को देखना होगा। एक प्रतिसंस्कृति रचते हुए अब तक प्रचलित सांस्कृतिक विचारधाराओं को तोड़ने का संकल्प विमर्श के प्रतिरोधी स्वर की खास पहचान है।

नारी मुक्ति का सबसे पहला कदम या सबसे पहली शर्त है उसकी अपनी चेतना का विकास। उसकी अपनी हीनभावनाएँ, बेसुधपन या मानसिक गुलामीपन ही अकसर उसके परिवर्तन में आड़े आते हैं। अतः स्त्री को सबसे पहले अपने आपकी पहचान यानी अपनी अन्तर्जगत या आत्मसम्मान के प्रति सजग होना है। अनामिका की कविता 'साँप-सीढी' इस सन्दर्भ में गौर करने लायक है। कविता स्त्री की जिन्दगी की रिक्तता, जो उसके अपने स्वत्व के छीन लिये जाने के क्रम में बल पकड़ती है, को अपने आप भरने की माँग करती है।

“जिसे करने के लिए न काम हो / न इन्तज़ार / प्यार, प्रार्थना /  
उसे अपनी चुप्पी से / खूब मन लगाकर / चाहिए खेलना साँप-



सीढी। / जाने केलिए जिसे घर हो न घाट / जहनुम, न जंगल। /  
उसे अपने भीतर ही / खेनी चांहिए / एक नाव।”<sup>(1)</sup>

कात्यायनी की कविता ‘सात भाइयों के बीच चम्पा’ कविता स्त्री की अनिवार्य आस्थावादी दृष्टि को दर्ज कर रही है। कविता के प्रारंभ में ऐसा परिदृश्य प्रस्तुत दिया गया है कि स्त्री अवमानना की बारीकियाँ पेश हुई हैं। सात भाइयों के बीच चम्पा सयानी हुई। उसी क्रम में वह अपने बाप की छाती पर साँप सी लोटती, सपनों में काली छाया-सी डोलने लगी। चम्पा का सयानी होना यानी एक लडकी के सयानी होने के साथ उसको अलगाने का कार्य शुरू होता है। उसकी स्वाधीनता छीन ली जाती है साथ ही साथ परिवार की नज़र में पराये घर की लगने लगती यानी बोझ बनने लगती है। इस दृष्टि के कारण ओखल में धान के साथ कूट दी गयी, भूसी के साथ कूडे पर फेंक दी गयी। फिर भी वह अमरबेल बनकर उगती है। पुनः उसे दबाने की कोशिश की जाती है। ‘तालाब में जलकुम्भी के जालों के बीच वह दबा दी गयी। लेकिन

“वहाँ एक नीलकमल उग आया। / जलकुम्भी के जालों से ऊपर  
उठकर / चम्पा फिर घर आ गयी, / देवता पर चढायी गयी /  
मुरझाने पर मसलकर फेंक दी गयी / जलायी गयी। / उसकी  
राज बिखेर दी गयी / पूरे गाँव में / रात को बारिश हुई  
झमडकर। / अगले ही दिन / हर दरवाजे के बाहर / नागफनी  
के बीहड घरों के बीच / निर्भर - निस्संग चम्पा / मुस्कुराती पायी  
गयी।”<sup>(2)</sup>

1. अनामिका - बीजाक्षर, प्र.सं. 1993 - पृ. 17

2. कात्यायनी - साथ भइयों के बीच चम्पा, प्र.सं. 1994 - पृ. 21, 22

दफनाने की तमाम कोशिशों के बावजूद चम्पा दबती नहीं है। यह एक स्त्री की अपनी आस्था है जो संघर्षरत रहने को उद्यत रहती है। रौंद दिये जाने के बाद भी वह मिटती नहीं; बार-बार उगती है। अपने आत्मसम्मान के प्रति यह एक स्त्री की अपनी सजगता है जो उसे बार-बार उगने की प्रेरणा देती है। यही आस्था स्त्री स्वाधीनता की सबसे बड़ी शर्त है। स्त्री का यह अपना प्रतिरोध है। कात्यायनी की अन्य कविता 'स्त्री से डरो' उपर्युक्त सन्दर्भ में गौर करने लायक है। स्त्रीत्व की तलाश यहाँ सहज ही दृष्टव्य है। कविता में संकेत है कि 'यह स्त्री सब कुछ जानती है / पिंजरे के बारे में / यन्त्रणागृहों के बारे में।' उसकी दृष्टि से कुछ भी ओझल नहीं है यह उसके सदियों के अनुभव की यन्त्रणा है। स्त्री के यथार्थ का एक दूसरा रूप भी है कि 'पिंजरे के बारे में पूछने पर वह बताती है नीले अनन्त विस्तार में उडने के रोमांच के बारे में। जाल के बारे में पूछने पर गहरे समुद्र में खो जाने के सपने के बारे में बातें करने लगती है; यन्त्रणागृहों की बात छिड़ते ही गाने लगती है प्यार के बारे में एक गीत।' एक ओर अपनी स्थिति की सही पहचान दूसरी ओर सपने की दुनिया में विचरण की आकांक्षा। यह उसकी आस्था है जो उसके बदलाव का सबसे पहला कदम है। अतः कविता में तमाम तानाशाही सन्दर्भों के खिलाफ चेतावनी है कि

*“रहस्यमय है इस स्त्री की उलटबासियाँ / इन्हें समझो। / इस स्त्री से डरो।”<sup>(1)</sup>*

---

1. कात्यायनी - साथ भइयों के बीच चम्पा, प्र.सं. 1994 - पृ. 11

अब तक दबायी गयी स्त्री की वर्चस्ववादी समाज के खिलाफ अपनी प्रतिवादी आवाज़ है। इसकी मुखरता के ज़ोर पकड़ने के क्रम में अपनी स्वाधीनता भी संभव हो पायेगी ऐसी आस्था कविता में दर्ज हुई है।

अनामिका की कविता 'सेफ्टीपिन' अपनी सादगी में भी स्त्री अवमूल्यन के खिलाफ प्रतिरोधी कदम रखती है। सेफ्टी पिन जैसी साधारण सी चीज़ स्त्री की दुनिया में हमेशा उसके संग रहते हुए कैसे उसकी संकटग्रस्तता में साथ देती है इसकी अभिव्यक्ति कविता में हुई है जो बाद में स्त्री की आस्थाजन्य प्रतिक्रिया बनती है। सावित्री पाठक का हौडाए वस्तु जगत हमेशा सेफ्टीपिन को संभालकर रखता है। 'यह जंगाया-सा सेफ्टीपिन सावित्री पाठक के हौडाए वस्तुजगत में इमर्जेंसी वार्ड में डॉक्टर की सी हैसियत पाती है। इसी के रहते 'आपातकालीन स्थितियों को संभालती आयी है। सावित्री पाठक जैसी अभावग्रस्त औरत के लिए सेफ्टीपिन की भूमिका नगण्य नहीं है। आत्मनिर्भर स्त्री के लिए यह उसके स्वत्व का विस्तार है। स्वालम्बन का प्रतीक चिह्न भी है। पुरुष वर्चस्ववादी समाज के खिलाफ उसमें आत्मसम्मान की सहज प्रतिक्रिया भी-

“शाम-सुबह और रात-दिन / क्या जाने कौन-एक / खूब विशाल-  
सा सेफ्टीपिन / एक साथ नत्थी किए रखता है इसकी / यह  
दुनिया, वह दुनिया, / धरती और आसमाँ! / तकलीफें - उम्मीदें /  
आस्थाएँ और बगवतें / इसी बड़े से सेफ्टीपिन में गुँथी हुई।” /  
झलती हैं इसके इजारबन्द से धीरे-धीरे / देती हुई दस्तक।”<sup>(1)</sup>

---

1. अनामिका - अनुष्ठुप, प्र.सं. 1998 - पृ. 61

सविता सिंह की कविता 'कोई हवा' प्रतिरोधी मनोभूमि पर रची गयी है। वह आकांक्षा रखती है कि 'कोई हवा मुझे भी ले चले अपनी रौ में उन नदियों पहाड़ों, जंगलों में, जहाँ दूसरे जीवों का जीना होता है, मुझे भी दिखाये कठिनतम स्थितियों में भी कैसे बचा रहता है जीवन। ज़िन्दगी के कठिनतम मोड़ पर भी अपनी ज़िन्दगी को बनाए रखने की आकांक्षा यहाँ परिलक्षित है। समाज की तानाशाही स्थितियाँ उसे नष्ट करने को उत्सुक है, उसे रौंदने की कोशिश लगातार जारी है। ऐसे में टूटकर भी जीवन न खोने वाली फूल की एक डाल के समान अपने को ढालने की आकांक्षा को वह पालती नज़र आती है। यह एक स्त्री की, टूटने पर भी नये सिरे से जीने की आकांक्षा है जिसको वह स्त्री विरोधी अधिकार ग्रस्तता के खिलाफ बनाए रखना चाहती है -

“कोई हवा मुझे भी दिखाये कैसे / लाखों करोड़ों जीवाणु / कीड़े-मकोड़े बड़े छोटे / जीते हैं प्रछन्न प्रबल अपने जीवन / कैसे उन्हें कोई पीडा नष्ट नहीं कर सकती / गुमराह नहीं कर सकता कोई भी सुख उन्हें / छीन नहीं सकता कोई उनसे उनका सच / रोक नहीं सकता उन्हें जाने से इस जीवन के आगे।”<sup>(1)</sup>

यह स्त्री के स्वाभिमान की लड़ाई है। स्त्री-कवि घर को ध्वस्त होते हुए देखने के पक्ष में है। कात्यायनी के शब्दों में “वह सच्ची समानता के स्वतन्त्र इच्छा पर आधारित नैतिक प्यार की उदात्तता व गरिमा को हासिल करने के लिए परिवार की मौजूदा संस्था इसके व्यभिचारी उत्पीडक, शोषक,

---

1. सविता सिंह - अपने जैसा जीवन, प्र.सं. 2001 - पृ. 16

निरंकुश, स्वरूप को लात मारकर ध्वस्त कर देगी।”<sup>(1)</sup> सविता सिंह का कहना है कि “परिवार ही वह पहली जगह है जहाँ से स्त्री पुरुष में भेदभाव शुरू होता है। अतः इस भेदभाव को समाप्त करना चाहनेवाले स्त्रीवादी परिवार के इस रूप का या ढाँचे को ही बदलने की बात करते हैं।<sup>(2)</sup> यहाँ घर को नकारने का प्रयास स्त्री की अराजक दृष्टि नहीं है बल्कि घर में ही मानवीय मूल्यों पर आधारित नयी स्थिति की माँग है। स्त्री का दूसरे नागरिक में सीमित करते हुए उस के शोषण पर टिकी हुई छद्म सामाजिकता को वह तोड़ना चाहती है। घर वह जगह है जहाँ पुरुष वर्चस्व के दबाव में स्त्री को रहना पड़ता है। अनितावर्मा की कविता ‘टूटता मकान’ सामने वाले मकान को टूटते देखकर भी निसंग रहनेवाली औरत को केन्द्र में रखती है। किसी के अफसोस जाहिर करने पर सिर हिलाती मात्र है।

“घर के सामने जो मकान टूटना है / उसका दुख मुझ तक नहीं  
आता / लगातार शोर से बहरे हैं मेरे कान / किसी के अफसोस  
जाहिर करने पर / मैं हिला देती हूँ सर / नहीं जानती किन लोगों  
ने इसे छोड़ा / जो घटित हुआ वह ठीक-ठीक क्या था / टूट कर  
अपने पर ही गिरता हुआ अतीत / या किसी विवशता का भयावह  
भविष्य।”<sup>(3)</sup>

यहाँ मकान का टूटना घर का टूटना है। घर का टूटना स्त्री के लिए विवशता के अतीत का गिरना है। अतः घर को पुराने ढाँचे को तोड़ने का

- 
1. कात्यायनी - दुर्ग द्वार पर दस्तक, प्र.सं. 1998 - पृ. 45
  2. सं. राजकिशोर - नैतिकता के नए सवाल, सं. 2006
  3. अनिता वर्मा - एक जन्म में सब - पृ. 20

आग्रह स्त्री की अनिवार्यता की उपज है। घर उस पूरी सामाजिक आर्थिक, सांस्कृतिक अधीनता या रूढ़िग्रस्त मान्यताओं का प्रतीक है जो वर्चस्ववादी परम्परा में टिका हुआ है। उसकी दीवारें मज़बूत हैं। अपनी आस्थावादी नज़रिए के रहते वह आकांक्षा कर रही है कि तोड़ना नामुमकिन नहीं है। मानवीय मूल्यों पर अधिष्ठित एक समाज की परिकल्पना इसके मूल में कार्यरत है। प्रतिरोधी दृष्टि की नैतिकता भी यहाँ जाहिर होती है।

### लोक का विकल्प

नवऔपनिवेशिक हमलों के खिलाफ समकालीन कविता के प्रतिरोध का एक पक्ष उसकी लोक दृष्टि है। नव औपनिवेशिक औजार भोगवादी सभ्यता और अन्धाधुंध विकासवाद तीसरी दुनिया को अपनी जड से उखाड़ने की कोशिश में लगे हुए हैं। हमारी सांस्कृतिक पहचान को विरूपित करते हुए एक बौनी सांस्कृति को हम पर थोपते हुए एक ओर हमें चेहराविहीन बनाने की कोशिश हो रही है तो दूसरी ओर समय को पूरी तरह मनुष्य विरोधी बनाने की साजिश भी रची जा रही है। इसके खिलाफ प्रतिरोध के लिए समकालीन कविता अपनी मिट्टी में जमकर खड़ी हुई है। वह जातीय आत्मपहचान के संघर्ष में लगी हुई है। नयी कविता के दौर में आधुनिकवाद की सीमाओं का उल्लंघन करते हुए नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल जैसे कवि ने कविता की प्रादेशिकता को दर्ज किया था। यह प्रयास हमारे अपने परिवेश, ज़मीन व जनता से जुड़ने का था। औपनिवेशिक दबाव के तहत हमारा स्वत्व छीन लिया जा रहा था जिसके खिलाफ कविता का लोक सक्रिय था। इसकी निरन्तरता समकालीन

कविता में बल पकडती गयी है। वह सांस्कृतिक जड़ों की तलाश में है। समकालीन कविता की इस लोकप्रवृत्ति पर आरोप है कि वह पुनरुत्थानवाद को प्रश्रय दे रही है। यह एक तरह से आदिम व्यवस्था की ओर लौटने का प्रयास है जहाँ रूढ़ियाँ अपने विकराल रूप में हैं और पीछे की ओर लौटने का प्रयास वर्तमान चुनौतियों से कतराने की प्रवृत्ति है। लेकिन वास्तविकता यही है कि यहाँ रूढ़ियों में जकड़ी एक सामन्ती संस्कृति को पुनः लाने का प्रयास नहीं इसका बल्कि परम्परा के पुनर्मूल्यांकन की अनिवार्यता पर इसका बल है। परम्परा में निहित सार्थक पक्षों की निरन्तरता की माँग है। यह हमारी अपनी पहचान या अस्मिता को न खोने की अनिवार्य शर्त है। यहाँ लोक का अर्थ है कि हमारे जीवन की विपुलताओं का ही दूसरा नाम है, जहाँ किसी व्यक्ति वैशिष्ट्य का दंभ अपनी शेखी न बघारकर, अपने विशिष्ट्य को अपनी क्रियाओं में सहेजकर साधारण सामूहिकता के साथ मिलकर लोकनायक का दर्जा प्राप्त करता है।”<sup>(1)</sup> यहाँ बाज़ारवादी सांस्कृति के खिलाफ लोक का अपना महत्व दर्ज होता है। बाज़ार की यह रणनीति है कि वह वर्चस्व को स्थापित करने के लिए हमारी परम्परा, जातीय संस्कृति और स्वत्व को मिटाना चाहती है। उपभोगवादी सभ्यता के शिकार होकर आरामतलब या प्रतिक्रियाविहीन रहनेवाली झुंड संस्कृति के खिलाफ, इस बौनी सभ्यता की चकाचौंध से मुक्त सामान्य जनपद ही संघर्षरत है। विश्वग्राम के प्रतिरोध में गाँव की संस्कृति या जातीय संस्कृति जो भारतीयता की सही पहचान है उसे बनाए रखने के लिए संघर्षरत लोक ही विकासवादी सभ्यता के खिलाफ का विकल्प है।

---

1. जीवनसिंह - लोक में कविता, प्र.सं. 1999 - पृ. 16

समकालीन यथार्थ से मुठभेड केलिए जातीय संस्कृति के पुनर्मूल्यांकन की बात उठानेवाली कविताओं में स्मृतियों की अपनी खास भूमिका व्यक्त हो रही है। वर्तमान दौर में स्मृतियों पर ज्यादा हमले हो रहे हैं। स्मृतियों पर हमले भी हमें जडविहोन बनाने की ही कोशिश है। इसके खिलाफ स्मृतियों की खास भूमिका के प्रति समकालीन कविता सजग है। एकान्त श्रीवास्तव के शब्दों में “स्मृति अन्तः सलिला है एक सम्पूर्ण संभ्यता और संस्कृति की जड़ें जिसमें डूबकर जीवन रस ग्रहण करती है। ...जिस प्रकार एक कारीगर केलिए एक छोटे तार, स्क्रू, पेंचकस, सूक्ष्म औजार या कील की उपादेयता होती है ठीक उसी प्रकार कविता की कार्यशाला में एक छोटी सी छोटी स्मृति भी कवि केलिए ज़रूरी और मूल्यवान होती है। स्मृति में जाकर वर्तमान कुछ और निखर उठता है - फिर चाहे उसका सौन्दर्य हो या उसकी विभीषिका।<sup>(1)</sup> विष्णुखरे की कविता ‘लालटेन जलाना’ स्मृतियों में जाकर जातीय प्रतिरोध को संभव बनाती है। यहाँ लालटेन जलाने की क्रिया अपनी प्रतीकात्मकता में सांस्कृतिक स्वत्व को बचाने की ऊर्जा है। कविता की टिप्पणी है कि “लालटेन जलाना उतना आसान बिलकुल नहीं है जितना उसे समझ लिया गया है।” यहाँ हमारे संघर्ष के निरन्तर्य की ओर संकेत है। वर्तमान स्थितियों के खिलाफ जवाबदेह हेने के केलिए हमें अपनी परम्परा की सांस्कृतिक भूमिका को, जीवन सापेक्ष सन्दर्भ में परखने की माँग सहज द्रष्टव्य है। लालटेन जलाने की क्रिया रोज़ का संघर्ष है। इसमें पूरे अतीत का संघर्ष भी छिपा है। यहाँ लालटेन मात्र सँकरे कमरों को प्रकाश युक्त करने वाली चीज़ नहीं रह गयी है बल्कि अन्धेरे की खाई में धकेल दी

---

1. एकान्त श्रीवास्तव - कविता का आत्मपक्ष, प्र.सं. 2006 - पृ. 31



जानेवाली तमाम साजिशों के खिलाफ एक प्रतिरोधी हथियार साबित हो रहा है। उसकी रोशनी पूरे कमरे में इस तरह फैली है कि उजाले में सबकुछ पारदर्शी है और उसके पीछे 'आपकी छाया की विशाल उपस्थिति है।' यह एक व्यक्ति की लड़ाई नहीं बल्कि पूरी सांस्कृतिक लड़ाई है जो हमारी ऊर्जा है। कविता में संकेत है कि

“अच्छे जलानेवाले / लालटेन को अपनी पहुँच के पास लेकिन  
वहाँ रखते हैं / जहाँ वह किसी से गिर या बुझ न जाए / और  
बाती को वहीं तक नीची करते हैं / जब तक उसकी लौ सुबह  
उगते सूरज की तरह / लाल और सुखद न दिखने लगे।”<sup>(1)</sup>

आलोकधन्वा की कविता 'एक जमाने की कविता' लोकसन्दर्भ की स्मृति को बनाये रखने की तीव्र आकाँक्षा को दर्ज करती है। इसमें गाँव अपने साधारण हाव-भाव में उपस्थित है। अन्धान्धुध विकासवाद द्वारा रौंद दिये जा रहे गाँव अपने जातीय संस्कारों को लिये हुए है जहाँ मनुष्य और मनुष्य के बीच का लगाव सुरक्षित रहते हैं। कविता में गाँव की स्मृतियों के केन्द्र में माँ है जो अपने व्यापक अर्थ में प्रस्तुत है। प्यार के साथ हमेशा सहारा बनने वाली माँ कभी कहानी सुनाती है, बचपन की बातें सुनाती है, अनपढ़ होने पर भी रोज़ नया गीत सुनाती है, दियाबाती के समय शाम में रोशनी करते हुए गाती है। 'शाम में रोशनी करती माँ' व्यापक अर्थ की माँग करती है। एक सहारे के रूप में माँ हमेशा साथ रहती है। मातृत्व की सुरक्षा में सबको बाँधती है कि

---

1. विष्णुखरे - सब की आवाज़ के पर्दे में, प्र.सं. 1994 - पृ. 55

“आँचल की ओट में दीप की लौ को / हवा से बचाती / वह  
आँगन पर करती / गोधूलि में नीम के नीचे से / हम उसे देखते  
रसोई में जाते हुए / जैसे-जैसे रात होती जाती / हम माँ से तनिक  
दूर नहीं रह पाते।”<sup>(1)</sup>

आँचल की ओट में दीप की लौ को हवा से बचानेवाली माँ मानवीय मूल्यों की सांस्कृतिक परम्परा का प्रतीक है। माँ वह पूरा संस्कार है जो संकट में सहारा बनती है। परम्परा का आग्रह समकालीन कविता में जीवन सापेक्ष सन्दर्भ में ही प्रस्तुत हुआ है। हमारी लोकपरम्परा श्रम के सौन्दर्य का ही परिचय देती आयी है। जातीय संस्कारों को अपने में सहेजते हुए कर्मशीलता के महत्व को दर्ज करनेवाली लोकपरम्परा से जुड़े बिना संकट से उबरना नामुमकिन है। विजेन्द्र की कविता ‘भरी दोपहर है’ साधारण लोगबाग को उसके जीवन यथार्थ के साथ केन्द्र बनाती है। नव औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्त होकर अपनी जड़ों को पहचानने की माँग कविता करती है। कविता ऐसे क्रियाशील मनुष्य को केन्द्र में रखती है जो सौन्दर्य के सृजन के लिए संघर्षरत है। ‘भरी दोपहर है’ कविता श्रम सौन्दर्य को अंकित करने का प्रयास करती है। अपनी अभावग्रस्तता के बीचों-बीच उसके लिए कारण बनी स्थितियों से संघर्ष को क्रियाशील बनाने वाले लोक को अपने व्यापक अर्थ में कविता ने केन्द्र बनाया है। विजेन्द्र के शब्दों में “यह क्रूर व्यवस्था बिना कड़े प्रहार के नहीं टूट सकती और उसे तोड़ने वाले होंगे श्रमिक और छोटे किसान। ‘नये-पत्ते’ में निराला के जो चरित्र हैं

---

1. आलोकधन्वा - दुनिया रोज़ बनती है, प्र.सं. 1998 - पृ. 26

वे इधर संकेत करते हैं। यह बात कविता के माध्यम से विकसित है। और सबल हो। बल्कि आज की सही समकालीन कविता के केन्द्र में यही सर्वहारा हो.... इन चरित्रों के माध्यम से ही मैं सामन्तवाद और उसके अवशेषों को टूटते ढहते दिखाना चाहता हूँ। पूँजीवादी विकृतियाँ भी कैसे हमारे जीवन को जकड़ रही है यह भी इन चरित्रों से व्यक्त हो सकते हैं।”<sup>(1)</sup> कविता के केन्द्र में ऐसे किसान हैं जिस के घर में अनाज नहीं है, भूखे पेट रहने के लिए मजबूर है। मेहनत के बावजूद किस्मत इनको हमेशा खलती है। फिर भी निराश न होकर कर्मशील रहना इनकी पहचान है।

“गबडू ने ली ऐंडनी / हाथ उठाकर / मतलब था-गर्म हो लिए /  
चलो उठो रंग-पानी। / खबडू ने हाथ फिराया / भूरी डाढी पर /  
खडा हो गया बूढा तनकर / बोला, छोडो चिन्ता / भली करेगा  
राम / बने हाथ है जबतक”<sup>(2)</sup>

यह आस्थाजन्य प्रतिक्रिया है। यहाँ मिथक पर भरोसा रखनेवाले लोक का परिचय भी मिलता है। इसे अतार्किक कहकर सरलीकृत नहीं कर पायेंगे। क्योंकि यह भारतीयता की पहचान है। हमारी जातीय संस्कृति मिथकों के बिना अधूरी रहेगी। एकान्त श्रीवास्तव के शब्दों में “मिथक भारतीय जन जीवन में और फलतः साहित्य में भी इतने रचे बस गये हैं कि इनके बिना सभम्बतः संस्कृति-मीमाँसा भी अपूर्ण समझी जाएगी मिथ की बुनियाद हटते ही भारतीयता की स्वतन्त्र और विरल पहचान की अवधारणा ही भरभराकर गिर पड़ेगी। साहित्य की एक प्रदीर्घ परम्परा में मिथ ने रचना

---

1. वसुधा - पृ. 59

2. विजेन्द्र - घना के पाँखी, सं. 2000 - पृ. 126

को अधिक आत्मीय, विश्वसनीय और निस्सन्देह अधिक भारतीय बनाया है। एक देश विशेष के मिथ उस राष्ट्र की विशिष्ट पहचान भी हैं। मिथ को गप्प की बजाय सभ्यता का आदिम विश्वास कहना अधिक तर्क संगत प्रतीत होता है।”<sup>(1)</sup>

विश्वग्राम में तब्दील करने के छद्म दावे के तहत उसके पौरोकार हमारी अस्मिता को विरूपित करने के प्रयास में लगे हुए हैं। ऐसे में स्थानीयता आज अपने स्वत्व को बचाए रखने के लिए संघर्षरत है। हर एक व्यक्ति के संदर्भ में स्थानीयता का अपना महत्व है क्योंकि उसके साथ सदियों के अनुभव जुड़े हुए हैं। स्थानीयता का आग्रह कभी भी संकुचित दृष्टि नहीं है क्योंकि उसी में उसकी खास पहचान निहित है। इसी आत्मपहचान की लड़ाई आज हमारी प्रत्येक स्थानीयता लड़ रही है। स्थानीय विशेषताएँ स्थानबद्ध होकर भी भारत के सन्दर्भ में वह प्रत्येक स्थान भारतीयता का ही मापदंड है। भूमण्डलीकरण के दौर में स्थानविशेष पर केन्द्रित रहकर जो मुद्दे उठाये जाते हैं वे 'पूरे भारत के और भारत जैसी तीसरी दुनिया के हैं। कवि का विश्वबोध यहीं स्पष्ट होता है।

एकान्त श्रीवास्तव की कविता 'कन्हार' अपने स्थानीय सन्दर्भ में नव-औपनिवेशिक हमलों से जवाब देह होने का प्रयास करती है। मनुष्य विरोधी समय की ओर संकेत है कि हथियार घिसकर भोथरे हुए हैं। लेकिन मनुष्य को मारने की कला इतिहास का अध्याय मात्र नहीं रह गयी है बल्कि वह और भी विकराल हो गयी है। ऐसे समय में यहाँ कन्हार वर्तमान

---

1. एकान्त श्रीवास्तव - कविता का आत्मपक्ष, प्र.सं. 2006 - पृ. 27

षडयन्त्रों के खिलाफ एक अंचल का प्रतिरोध है या फिर भारत के विविध अंचलों का या तीसरी दुनिया के अंचलों का प्रतिरोध है। कविता में कन्हार की अपनी धरती की महक अपनी पूरी सहजताओं के साथ पेश हुई है। यह ऐसी धरती है जो संघर्षों के बावजूद 'सपनों के हरेपन को कहीं-कहीं अपने भीतर छुपाई हुई है।' अब विकास के नवऔपनिवेशिक रास्ते ने उसे विरूपित किया है कि 'कन्हार की आत्मा कहीं रो रही है, कन्हार केवल मिट्टी का नाम नहीं है।" कन्हार केवल मिट्टी का नाम नहीं है बल्कि वह पूरी जातीय संस्कृति है जिसको रौंदा जा रहा है। कन्हार का अपना इतिहास रहा है जहाँ 'बलियों भरा धान बैलगाडियों में लदकर गाँव आता था, धान पकते वक्त राउत गोवर्धन पूजा में उलझे रहता, हँसकर दसों दिशाओं के द्वार खोल देती कन्हार और हर तरफ से झरता धान, उर्वरा कन्हार जब भर देती धान का कटोरा तो कन्हार कन्हार कहकर गाती लडकियाँ कि कन्हार ही में उनकी ज़िन्दगी की खुशियाँ हैं, कन्हार के बिछोनें पर उनके सुख की नींद है। ऋतुओं के बदलने के क्रम में उनकी ज़िन्दगी की लय भी बदलती है। कन्हार ऐसा गाँव है जो अपनी सारी खूबियों-खामियों के साथ लोगों की ज़िन्दगी में बसा हुआ है। यहाँ कवि में हमारी ग्रामीण संस्कृति की खूबियों पर प्रकाश डालना कविता का लक्ष्य नहीं बल्कि वर्तमान यथार्थ की एक विस्फोटात्मक पहचान देना है। यह नवऔपनिवेशिक विमर्श बनता है कि विकास के व्यर्थ दावे बेनकाब होते हैं -

*“विकास कुछ ऐसे आया / कि कंदील की थरथराती लौ पर /  
झपट बडा बल्ब का प्रकाश / मरती हुई दूसरी कलाएँ सब /  
मगर मानुष को मारने की कला रही जीवित।”<sup>(1)</sup>*

1. एकान्त श्रीवास्तव - बीज से फूल तक, प्र.सं. 2003 - पृ. 129

यहाँ भूमण्डलीकरण के तहत ज़ोर पकड़े विकास की असलियत खुलती है। सामाजिक न्याय और विकास के बीच कोई सरोकार नहीं है। विकास और गाँव के बीच का सरोकार विकास द्वारा गाँव को लीलने का है। नवपूँजीवादी गठजोड वाले नवऔपनिवेशिक दौर में आर्थिक लूट जारी है कि किसान जड से उखड रहे हैं

“गाँव के किसान / शहर की मिलों और फैक्टरियों में मजूर हुए /  
गाँव की बहू-बेटियाँ / शहर जाकर चौका बर्तन करनेवाली /  
नौकरानियाँ हुई / गाँव के नोजवान पढ लिखकर / न किसान बन  
सके न कर्मचारी / एक अधकचरी-सी संस्कृति में फँसकर /  
फूलती रही उनकी साँस”<sup>(1)</sup>

मुनाफाखोर पूँजीवाद का यही असर प्रत्येक अंचल पर है। जब विकास का अर्थ मुनाफा कमाना होता है तब गाँव के किसान को मज़दूर बनना पडता है, बहु बेटियों को शहर में नौकरानियाँ बननी पडती है। प्रेमचन्द के 'गोदान' में होरी की त्रासदी आज दोहरायी जा रही है। खेती भारतीय संस्कृति की पहचान है। किसान उसका अगुआ है। लेकिन अन्धाधुंध विकासवाद में सबसे हास्यास्पद होने वाला भी किसान ही है। वर्तमान आर्थिक निर्णयों ने उसे जडविहीन बनाया है। अकाल उसका यथार्थ बनता जा रहा है - 'अकाल में साहूकार जोंक की तरह चूसते खून लोगों का और लोग आते लेकर बटलोही, बटकी, थाली हँउला और पूलकाँस का कटोरा रखने गिरवी बदले में पाते दो चार काठा धान या थौड से रुपए।'

---

1. एकान्त श्रीवास्तव - बीज से फूल तक, प्र.सं. 2003 - पृ. 130

वैश्वीकरण आंचलिक संस्कृति को पूरी तरह ध्वस्त करने पर तुला हुआ है एक ओर अंचल की अपनी आत्मपहचान को मिटाने की कोशिश जारी है कि उनसे उनकी संस्कृति, आचार-विचार, उनकी बोलियाँ, रहन-सहन, पर्व-त्योहार, उनकी ऋतुएँ सबको छीनकर चेहरा विहीन बना रहा है। उनके अपने संस्कार में निहित प्रतिरोधी क्षमता को नष्ट करते हुए जडयन्त्रों में तब्दील किया जा रहा है। नागरिक बोध पर भोगवादी सभ्यता को लादकर झुंडों में परिवर्तित किया जा रहा है कि वे प्रतिक्रियाविहीन हो रहे हैं। अपनी आंचलिक प्रतिरोधात्मकता को खोकर हताश होने की विवशता को प्रत्येक आंचलिक नागरिक ढो रहा है।

ऐसे में भी एक आशावादी दृष्टि बर्चा हुई है कि 'पूरी तरह उजड़ नहीं जाते गाँव। कुछ लोग वहाँ रह ही जाते हैं जो कन्हार को प्यार करते हैं। इन्हीं पर आस्था है कि 'उगाना चाहते हैं फिर से / सपनों का हरापन माँगलिक।' इसी में कविता का अन्त नहीं हुआ है। वह अपने में प्रतिरोधी मनोभूमि संजोई है कि समय से आगाह कराने की कोशिश हुई है, साथ ही मुक्ति के प्रति सजग होने की प्रेरणा भी

“इन दो आँखों के अलावा / अपने अंतस की तीसरी आँख से /  
कभी देखो कि एक जाल है वहाँ / धरती पर बिछा हुआ \*

\* \* / मुक्ति कौन नहीं चाहता इस जाल से / क्या मैं नहीं चाहता  
मुक्ति? / क्या तुम नहीं? / क्या कन्हार इस जनपद की नहीं  
चाहती मुक्ति?”<sup>(1)</sup>

---

1. एकान्त श्रीवास्तव - बीज से फूल तक, प्र.सं. 2003 - पृ. 136

कन्हार अपने व्यापक अर्थ में भारतीय किसानों की कविता है। मनुष्य विरोधी विकास के खिलाफ कन्हार का प्रतिरोध है जो नव औपनिवेशिक आधिपत्य की रणनीति को अनावृत करती है। यहाँ मुक्ति की आकांक्षा भी दर्ज है। यह लोक की अपनी प्रतिरोधी क्षमता पर भरोसे की उपज है।

जाहिर है कि समकालीन कविता मानवीय विडम्बनाओं को तफसील से पकड़ रही है। साथ ही विडम्बनाओं से मुक्ति की राह भी तलाश रही है। मानवीय संसक्ति के प्रतिरोधी पक्ष के प्रति सजगता बरत रही है। मानवीय व्यवहारों को विरूपित करते हुए मनुष्य को असुरक्षा की ओर धकेलने दी जाने वाली प्रतिगामी स्थितियों के खिलाफ मानवीयता की तलाश समकालीन कविता के व्यापक अर्थ में ही संभव है। अपने आसपास के साधारण मनुष्य से वह आस्था और संकल्प की माँग कर रही है। आस्था भी यहाँ मूल्य के रूप में दर्ज होती है क्योंकि वही संघर्ष की प्रेरणा बनती है। मनुष्य को मनुष्य के खिलाफ करनेवाली तानाशाही के खिलाफ समदृष्टि पर ज़ोर देनेवाले कबीर का विकल्प दूसरे सिरे पर साहस और संकल्प का भी विकल्प है। अपने में एक प्रतिसंस्कृति को गढ़ने का प्रयास भी आज की कविता की खास पहचान है। समकालीन कविता लोक का सृजन कर रही है। लोक के धरातल पर खड़े रहने का प्रयास स्वत्व को बरकरार रखने की भरसक कोशिश का प्रमाण है। असीम उम्मीद को अपने में समेटते हुए समकालीन कविता अपनी मानवीय संसक्ति के व्यापक अर्थ को दर्ज कर रही है।



उपसंहार

मनुष्य के विकास के सार्थक सोच में सांस्कृतिक आधारों को नकारा नहीं जा सकता। संस्कृति मनुष्य को संवेदनशील बनाती है और उसको मानवीय दृष्टि देती है। प्रत्येक समाज की ऐतिहासिक अनुभवों के आधार पर बनी खास जीवन शैली होती है, जिसका आधार संस्कृति होती है। यह उस समाज का सांस्कृतिक स्वत्व है। मानवीय मूल्यों पर अधिष्ठित भारत की अपनी जातीय संस्कृति रही है। इस सांस्कृतिक अन्तस के विरूपीकरण में अन्दरूनी विद्रूपताओं व बाहरी हस्तक्षेप का अपना हाथ रहा है इसके बल पकडने के क्रम में यहाँ मनुष्य का जीना दूभर हो रहा है। समकालीन कविता ने नव औपनिवेशिक सन्दर्भ में आन्दरिक और बाहरी तौर पर हो रहे विरूपीकरण की बहुआयामी स्थितियों के बीच अपना लोक रचा है। सांस्कृतिक प्रक्रिया होने के अर्थ में वह सांस्कृतिक माहौल और मनुष्य से जुड़ी हुई समस्याओं को अपने में समेटी हुई है। कविता की यह मानवीय संसक्ति है।

समकालीन कविता की समकालीनता उसकी दृष्टि सम्पन्नता की ओर संकेत करती है अपने काल के साथ सहस्थिति बनाए रखते हुए वह मनुष्य की सही स्थिति का आकलन करती नज़र आती है। समकालीनता के मूल में परम्पराबोध व इतिहासबोध की उपस्थिति सहज द्रष्टव्य है। वर्तमान समस्याओं की सतह तक सीमित न रह कर उन्हें ऐतिहासिक

सन्दर्भों के साथ परखने की माँग वह करती है। परम्परा के सार्थक पक्षों को अपनाने की अनिवार्यता के प्रति भी वह सजग है। समकालीन कविता के संवेदनात्मक विकास में आधुनिक कविता की भूमिका असंदिग्ध है। इसको आधुनिकता और समकालीनता की पारस्परिकता के अर्थ में लिया जा सकता है। नयी कविता के दौर में आधुनिकता के दो अलग चेहरे उभरकर आये थे एक प्रगतिशील अर्थ में और दूसरा पश्चिमी अन्दाज़ में। नयी कविता का एक आयाम तीसरी दुनिया के परिप्रेक्ष्य में आधुनिकता के प्रगतिशील अर्थ की पहचान देते हुए जातीय अन्वेषण पर जुड़ा हुआ था। अपने परिवेश के इर्द-गिर्द उसने अपना लोक सृजित किया। सामाजिक विडम्बनाओं व अन्तर्विरोधों के खिलाफ कविता की रचनात्मक संभावनाओं की तलाश भी हुई। जातीय स्वत्वान्वेषण के क्रम में लोक की क्रियाशीलता को मूल्य के रूप में प्रश्रय देने का प्रयास नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल और त्रिलोचन जैसे कवियों ने किया। उभरती हुई जनचेतना मुक्तिबोध की कविताओं का प्रबल पक्ष है। तमाम मनुष्य विरोधी स्थितियों के खिलाफ समझौतारहित संघर्ष उनकी रचनात्मकता का सार्थक पक्ष है। रघुवीर सहाय, शमशेर, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, भवानी प्रसाद मिश्र सरीखे कवियों की जनपक्षधरता भी समकालीन कविता के जनोन्मुखी विकास की प्रेरणा है। संवेदनात्मक विस्तार की ओर यह कविता का प्रयास था साथ ही ठोस आधार भी पा रही थी।

उपर्युक्त प्रभाव के बावजूद वर्तमान सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य को में नये सिरे से गढ़ने की कोशिश भी समकालीन कविता में द्रष्टव्य है। हर काल में कविता को लेकर सवाल उठ खड़े हुए हैं कि कविता क्या है?

कविता क्यों है? कविता का पक्ष क्या है? आदि। इसका सिलसिला जारी है। दरअसल यह अपने लिए नया मुहावरा और सौन्दर्यशास्त्र की तलाश में हो रहा है। मनुष्य की मुक्ति की चिन्ता को लेकर अपने वस्तुविन्यास में ही नहीं बल्कि अपने पूरे कलेवर में वह नया तेवर अपनाती नज़र आती है। अधिकारग्रस्त काल एवं मनुष्य के संकट के बीच अपने लिए जगह ढूँढने व अहमियत को दर्ज करने का प्रयास बहुआयामी सन्दर्भों में देखा जा सकता है। कविता अवांछित स्थिति को तोड़ना चाहती है अतः अलग-अलग रूपों में प्रतिकृत होना चाहती है। समाज के हर पहलुओं से जुड़ी वास्तविकताओं के प्रति संवेदनशील होने के कारण ही कविता कभी विरोध की भाषा के रूप में, नैतिक प्रतिरोध के रूप में, मानवीय उपस्थिति के रूप में, सत्य और सौन्दर्य की प्रतिकृति के रूप में अपनी उपस्थिति को दर्ज करती है। भाषायी अवमूल्यन के दौर में शब्द को बचाने की आकांक्षा और अपने में प्रतिभाषा रचने का प्रयास भी मानवीय संकट के मद्देनज़र हुआ है। कहीं वह खामोशी को तोड़ना चाहती है। कहीं अवकाश रचना चाहती है ताकि हम सोच पायें। भाषा ही रचना और जीवनानुभवों को जोड़नेवाली है। मनुष्य के असंख्य संघर्षों की अनगूँज उससे सुनायी देती है। प्रत्येक काल के अनुभव उसमें सजोए हुए हैं। वह हमारे स्वत्व की पहचान है। अतः शब्द और अर्थ की साधना के रूप में कविता को देखा गया है। इन सबके मूल में मानवीयमूल्यों की उपस्थिति को पुख्ता बनाने का आग्रह निहित है। वह मनुष्य की अर्थवत्ता को बरकरार रखना चाहती है। इसी क्रम में वह जातीय अन्वेषण की माँग कर रही है। लोकभाषा के विकल्प पर ज़ोर दे रही है। ताकि नैतिक अर्थवत्ता और जातीय स्वत्व को बरकरार रख पायें।

समकालीन कविता अपने समय की जटिलताओं की तह में जाना चाहती है। वह मौजूदा नव-औपनिवेशिक माहौल में रचनाशील हो रही है। सामन्ती व्यवस्था, पूँजीवादी व्यवस्था से गुज़रते हुए अब नवपूँजीवादी दौर में अर्थ का निरन्तर केन्द्रीकरण हो रहा है। यथार्थ से कतरानेवाली राजनीति के रहते जनतान्त्रिक मूल्यों की तबाही हो रही है। भूमण्डलीकरण की आड में विकास के व्यर्थ दावे दिये जा रहे हैं। दूसरी ओर बहुसंख्यक आम आदमी नामहीन ज़िन्दगी को जीने की अभिशप्तता लिए हुए हैं। सारी सुविधाएँ मुट्ठीभर लोगों के अनुकूल है। ऐसे में जनसाधारण का यथार्थ हास्यास्पद साबित हो रहा है। मौकापरस्त राजनीति जनतन्त्र में जनता की हिस्सेदारी को नज़रअन्दाज़ कर रही है। साथ ही तानाशाही चरित्र का भी परिचय दे रही है। ऐसे में एक ओर नागरिक अधिकारों से वंचित हो रहा है साथ ही विरोध को दबाने वाली तानाशाही के रहते अपने आपको असुरक्षित स्थिति में पा रहा है। मूल्यहीनता सत्ता पर हावी है कि मनुष्य का निरन्तर अवमूल्यन हो रहा है।

साम्प्रदायिक राजनीति के तहत धर्म को अपने मानवीय अर्थ से अपदस्थ किया जा रहा है। धर्म और राजनीति की साझेदारी आज तीव्रतम स्थिति में है। धर्म एक उन्माद बनता जा रहा है। धर्म, राष्ट्र और संस्कृति को एक साथ उलझाकर भारत की धर्मनिरपेक्ष व बहुलतावादी संस्कृति को तोड़ने का प्रयास हो रहा है। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की आड में साम्प्रदायिक राष्ट्रवाद बल पकड़ रहा है। यानी एक नव फासीवादी दौर से हम गुज़र रहे हैं। जाति, धर्म और नस्ल के नाम पर मनुष्य की हत्याएँ हो रही हैं। खून का हिसाब हो रहा है कि हिन्दू का है या मुसलमान का। धार्मिक कट्टरता

मानवीय संवेदनाओं की अवहेलना पर तुली हुई है। वह ऐसी ज़िन्दगी में घुसपैठ कर रही है जिसकी न कोई जाति होती है, न धर्म। उन पर जाति और धर्म का मोहर लगाते हुए वोटबैंक के रूप में उनका इस्तेमाल हो रहा है। साम्प्रदायिक दंगों की भयानक आग में निर्दोष आदमी के लिए अपनी ज़मीन ज़हरीली साबित हो रही है कि अब तक अपना समझकर संजोते आए सब कुछ को छोड़कर भागने के लिए मज़बूर हो रहा है। धर्म या नस्ल के नाम पर मनुष्य की हत्या हो रही है कि हर बार उसके साथ विश्वासघात हो रहा है। दूसरों को रौंदकर आगे बढ़ने की जल्दबाज़ी में नैतिकता को अनदेखा किया जा रहा है। साम्प्रदायिक मनोवृत्ति मनुष्य पर किस कदर हावी हो रही है कि वह मनुष्य को मनुष्य की नज़र से देख नहीं पा रहा है। आपसी विश्वास, संवेदनशीलता व ईमानदारी को खोकर एक दूसरे को शंका की दृष्टि से देखने की आदत पुख्ता हो रही है। नवउपनिवेशवादी हमलों में सबसे खतरनाक सांस्कृतिक स्तर का है। उपनिवेशवादी दौर में अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रचार के द्वारा मानसिक तौर पर गुलाम पीढ़ी के निर्माण का प्रयास हुआ था। नव उपनिवेशवादी दौर में भी यह साजिश ज़ोरों पर ही बर्बर संस्कृति आम नागरिक पर हावी हो रही है कि वह संवेदनशीलता से हाथ धो रहा है। बाज़ारीकरण उपभोक्तावादी संस्कृति बल पकड़ रही है कि भोगलिप्साओं में जकड़ी पीढ़ी विकसित है। राष्ट्रियता जैसे आदर्शों व नैतिक मूल्यों को खोकर मानसिक तौर पर गुलाम बनती जा रही है दूसरी ओर समझौतावादी भी। अनैतिकता नागरिक बोध में जड़ जमा रही है कि संवेदनशीलता से हाथ धो रहा है। एक और मनुष्यविरोधी समय में दमघुटकर जीने के लिए बाध्य मनुष्य है तो दूसरी ओर यथार्थ को यथास्थिति

मानकर चलनेवाली सामाजिकता भी बल पकड रही है। ऐसे ~~सामाजिक~~ माहौल में समकालीन कविता रचनाशील हो रही है। उसने आसपास के साधारण लोगबाग से अपना भूगोल सृजित किया है। इधर स्त्री कविता और दलित कविता ने भी अपना लोक रचा है। वे सामाजिक सांस्कृतिक सन्दर्भ में मनुष्य के दर्जे से भी वंचित मनुष्यों की दर्दनाक दास्तान को अनावृत कर रही है। समकालीन कविता ने प्रत्येक मनुष्य से अपना सरोकार स्थापित किया है। उनके दुःख दर्द की गहरी पहचान से उसका मानवीय दायरा निरन्तर विस्तार पा रहा है।

इधर की कविता ने अपने इच्छित यथार्थ को व्यापक अर्थ में प्रस्तुत किया है। अन्दरुनी विडम्बनाओं व बाहरी हस्तक्षेपों के खिलाफ जवाबदेह होने के प्रयास में मानवीय संसक्ति के प्रतिरोधी पक्ष के प्रति वह पूरी तरह सजग नज़र आती है। वह अन्तहीन आस्था की कविता है। वह ऐसे संघर्ष भूमियों की ओर जाती है जहाँ विडम्बनाओं के बावजूद पैर टिकाने की कोशिश में संघर्षरत मनुष्य है। संघर्षशील धरातलों पर जाते वक्त समकालीन कविता बेहद आस्थवान है। आस्था स्वयं एक मूल्य है। इसी के रहते वह भविष्य निर्माण के संकल्प को संजोई हुई है। वह ऐसे मनुष्य को अपने में दर्ज करती है जो बाहर से कमज़ोर दिखते वक्त भी भीतर से बेहद संकल्पवान है। ऐसे मनुष्य से सहने की ताकत और न सहने का विवेक पाने की आकांक्षा भी अपने में प्रतिरोधी मनोभूमि को ही दर्शाती है। प्रतिक्रियाविहीन समाज की जडता को तोड़ने का उपक्रम भी उसका सार्थक पक्ष है। इधर समकालीन कविता ने पारिस्थितिकी कविता का लोक रचा है जो विकास के मनुष्यविरोधी रुख के खिलाफ दर्ज है। प्रत्येक कदम

पर आस्था और संकल्प का स्वर उसमें मुखर है। इसी अर्थ में वह कबीर से जुड़ती है और आत्मा की अपराजेयता पर आस्थावान स्त्री का लोक रचती है। दोनों में अधिकारग्रस्त काल के बीच मानवीयमूल्यों पर आधारित समाज की स्थापना की आकांक्षा एवं अपनी जगह को दर्ज करने का प्रयास ही द्रष्टव्य है। समकालीन कविता एक सांस्कृतिक विमर्श के रूप में पेश हो रही है। ऐसे में प्रतिसंस्कृति रचते हुए प्रचलित रूढ़ सांस्कृतिक विचारधाराओं को तोड़ने का संकल्प उसका प्रतिरोधी पक्ष है।

इधर समकालीन कविता ने अपनी लोक दृष्टि का भी परिचय दिया है। नव औपनिवेशिक हमलों से जवाबदेह होने के क्रम में वह अपनी मिट्टी और जातीयसंस्कृति में जमकर खड़ी है। चेहराविहीन बनाते हुए मनुष्य को अरक्षितावस्था की ओर धकेलने वाली साजिशों के खिलाफ परम्परा के पुनर्मूल्यांकन की अनिवार्यता भी दर्ज हुई है। विश्वग्राम बनाने के व्यर्थ दावे की आड़ में बल पकड़ रही आर्थिक लूट और जड़विहीन होते मनुष्य के असंख्य दुःख दर्दों को अपने में समेटते हुए वह भारतीयता की तलाश कर रही है। यह जातीय संस्कृति का प्रतिरोध है जो अपनी स्थानीयता को सुरक्षित रखना चाहती है ताकि मनुष्य जड़विहीन न हो जाए।

मनुष्य की मुक्ति की समस्या से जूड़ने के लिए समकालीन कविता स्मृतियों की खास भूमिका के प्रति सजगता बरत रही है। स्मृति भी परम्परा और इतिहास दृष्टि के रूप में उसकी पूरी रचनाशीलता के मूल में कार्यरत है। वर्तमान के यथार्थ को वह गहरे इतिहासबोध के साथ विश्लेषित करती नज़र आती है जो भविष्य की कविता होने का ही उपक्रम है।



मानवीय संसक्ति को दर्ज करने के क्रम में समकालीन कविता व्यापक अर्थ पा रही है। सतही तौर पर मानवीय संकट को अभिव्यक्ति देने का प्रयास कविता के क्षेत्र में ज़रूर हुआ है। समकालीन कविता के दौर में भी हो रहा है। लेकिन समकालीन कविता में ऐसा पक्ष प्रबल है जो किसी भी प्रकार के सरलीकरण के खिलाफ है। इसी मायने में उसकी जीवनदृष्टि अर्थविस्तार पाती है। समकालीन कविता सही अर्थ में सांस्कृतिक प्रक्रिया होने की भूमिका के प्रति उसकी अतिरिक्त सजगता है। समकालीन जटिलता की उसकी पहचान गंभीर है। अपने समय में उसका हस्तक्षेप गहरा है।

मनुष्य की मुक्ति को केन्द्रीय चिन्ता बनानेवाली समकालीन कविता अपने में सांस्कृतिक विमर्श रच रही है। सरल और सपाट लगनेवाली कविताओं का भी अर्थस्तर व्यापक है। कविता कर्म को निभाहते हुए कहीं सूक्ष्म दृष्टि की भी माँग ही उसकी चेतना है करती है। समकालीन कविता की अपनी अहमियत हमारी दृष्टि के विस्तार से जुड़ी हुई है। वह हमें गहन ऐसा विज्ञान दे रही है। उसके माध्यम से मनुष्यविरोधी स्थितियाँ को देख पाते हैं। इनसे उबरने का रास्ता भी वह दिखा रही है। वह हमसे कह रही है कि हम विकल्पहीन नहीं हैं। समकालीन कविता का सबसे उल्लेखनीय पक्ष यह है कि वह हमें गंभीरता पूर्वक सोचने के लिए बाध्य करती है।

## सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

### कविता संग्रह

1. अनन्तिम - कुमार अम्बुज  
राधाकृष्ण प्रकाशन  
दरियागंज,  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 1998
2. अनुष्टुप - अनामिका  
किताब घर  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 1998
3. अतिक्रमण - कुमार अम्बुज  
राधाकृष्ण प्रकाशन  
दरियागंज  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 2002
4. अपनी केवल धार - अरुण कमल  
वाणी प्रकाशन  
नई दिल्ली  
प्र. सं. 1980

5. अपने जैसा जीवन - सवितासिंह  
राधाकृष्ण प्रकाशन  
दरियागंज  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 2001
6. अबूतर-कबूतर - उदयप्रकाश  
वाणी प्रकाशन  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 2002
7. अभी बिलकुल अभी - केदारनाथ सिंह  
संभावना प्रकाशन  
दापुड-245101  
दू.सं. 1980
8. आखर अनन्त - विश्वनाथ प्रसाद तिवारी  
राधाकृष्ण प्रकाशन  
दरियागंज  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 1991
9. आत्महत्या के विरुद्ध - रघुवीर सहाय  
राजकमल प्रकाशन  
नई दिल्ली  
प्र. सं. 1968
10. इसी दुनिया में - वीरेनडंगवाल  
नीलाभ प्रकाशन  
इलाहाबाद  
प्र.सं. 1991

11. उजाड में संग्रहालय - चन्द्रकान्त देवताले  
राजकमल  
नई दिल्ली  
प्र.सं. 2003
12. उसके सपने - चन्द्रकान्त देवताले  
वाणी प्रकाशन  
नई दिल्ली  
प्र.सं. 1997
13. उत्तर कबीर - केदारनाथ सिंह  
वाणी प्रकाशन  
नई दिल्ली  
प्र.सं. 1999
14. एक जन्म में सब - अनितावर्मा  
राजकमल प्रकाशन  
नई दिल्ली  
प्र.सं. 2003
15. कुछ कविताएँ कुछ  
और कविताएँ - शमशेर बहादूरसिंह  
राधाकृष्ण प्रकाशन  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 1984
16. कोई दूसरा नहीं - कुंवर नारायण  
राजकमल  
दरियागंज,  
नई दिल्ली-110002  
दू. आवृत्ति 2000

17. कूरता - कुमार अंबुज  
राधाकृष्ण प्रकाशन  
दरियागंज  
नई दिल्ली-110002  
दू. आवृत्ति 1996
18. गंगातट - ज्ञानेन्द्रपति  
राधाकृष्ण प्रकाशन  
दरियागंज  
नई दिल्ली-110002  
दू. आवृत्ति 2000
19. गर्म हवाएँ - सर्वेश्वर दयाल सक्सेना  
राधाकृष्ण प्रकाशन  
दरियागंज  
नई दिल्ली-110002  
दू. आवृत्ति 1969
20. गीत फरोश - भवानीप्रसाद मिश्र  
लोकभारती प्रकाशन  
इलाहाबाद
21. घना के पाँखी - विजेन्द्र  
सार्थक प्रकाशन  
दिल्ली  
प्र.सं. 2000
22. चाहे जिस शक्ल से - विजयकुमार  
राधाकृष्ण प्रकाशन  
दरियागंज  
नई दिल्ली-110002  
दू. आवृत्ति 1995

23. जादू नहीं कविता - कात्यायनी  
वाणी प्रकाशन  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 2002
24. दुनिया रोज़ बनती है - आलोकधन्वा  
राजकमल प्रकाशन  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 1998
25. दो पंक्तियों के बीच - राजेश जोशी  
राजकमल प्रकाशन  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 2000
26. धूप घड़ी - राजेश जोशी  
राजकमल प्रकाशन  
नई दिल्ली  
प्र.सं. 2002
27. नये इलाके में - अरुण कमल  
वाणी प्रकाशन  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 1996
28. नागार्जुन - सं. प्रभाकर माचवे  
लोकभारती प्रकाशन  
इलाहाबाद  
प्र.सं. 1999

29. नेपथ्य में हँसी - राजेश जोशी  
राजकमल प्रकाशन  
नई दिल्ली  
प्र.सं. 1994
30. पत्थर की बेंच - चन्द्रकान्त देवताले  
राधाकृष्ण प्रकाशन  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 1996
31. प्रतिनिधि कविताएँ - रघुवीर सहाय  
लोकभारती प्रकाशन  
इलाहाबाद
32. प्रार्थना के शिल्प में नहीं - देवीप्रसाद मिश्र  
लोकभारती प्रकाशन  
इलाहाबाद  
प्र.सं. 1989
33. बस्स ! बहुत हो चुका - ओमप्रकाश वाल्मीकि  
वाणीप्रकाशन  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 1997
34. बीज से फूल तक - एकान्त श्रीवास्तव  
राजकमल प्रकाशन  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 2003
35. बीजाक्षर - अनामिका  
भूमिका प्रकाशन  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 1993

36. भय भी शक्ति देता है - लीलाधर जगूडी  
वाणी प्रकाशन  
नई दिल्ली-110002  
त्रि.सं. 2003
37. मछलीघर - विजयदेवनारायण साही  
भारती भंडार, लीडर प्रेस  
इलाहाबाद  
सं. 1966
38. मुक्तिबोध रचनावली - सं. नेमिचन्द्र जैन  
राजकमल  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 1980
39. राख अन्धेरे की बारिश में - कात्यायनी  
वाणी प्रकाशन  
नई दिल्ली  
प्र.सं. 2004
40. संसद से सडक तक - धूमिल  
वाणी प्रकाशन  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 1972
41. सब की आवाज़ के पर्दे में - विष्णुखरे  
राधाकृष्ण प्रकाशन  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 1994



42. सबूत - अरुण कमल  
वाणी प्रकाशन  
नई दिल्ली-110002  
द्वि.सं. 1999
43. सम्पूर्ण कविताएँ - कुमार विकल  
आधार प्रकाशन  
पंचकूला-134113  
प्र.सं. 2000
44. सात भइयों के बीच चम्पा - कात्यायनी  
आधार प्रकाशन  
पंचकूला-134113  
प्र.सं. 1994
45. साखी - विजयदेवनारायण साही  
वाणी प्रकाशन  
नई दिल्ली-110002  
दू.सं. 1994
46. श्रम का सूरज : - सं. रामविलास शर्मा  
केदारनाथ अग्रवाल के कविताएँ परिमल प्रकाशन  
इलाहाबाद  
प्र.सं. 1996

### आलोचनात्मक ग्रंथ

1. अन्धेरे में : एक विश्लेषण - नन्दकिशोर नवल  
राजकमल प्रकाशन  
नई दिल्ली

2. आधुनिकता साहित्य के सन्दर्भ में - गंगाप्रसाद विमल  
दि मैकमिलन कम्पनी ऑफ  
इंडिया लि.  
नई दिल्ली  
प्र.सं. 1978
3. आलोचना के प्रगतिशील आयाम - शिवकुमार मिश्र  
पंचशील प्रकाशन  
जयपुर  
प्र.सं. 1987
4. एक कवि की नोटबुक - राजेशजोशी  
राजकमल प्रकाशन  
नई दिल्ली
5. कविता का दूसरा पाठ - भगवत रावत  
परिमल प्रकाशन  
इलाहाबाद-211006  
प्र.सं. 1993
6. कविता की संगत - विजयकुमार  
आधार प्रकाशन  
पंचकूला  
पुनर्मुद्रित-1996
7. कविता का गल्प - अशोकवाजपेयी  
राधाकृष्ण प्रकाशन  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 1997

8. कविता क्या है? - विश्वनाथ प्रसाद तिवारी  
राजकमल प्रकाशन  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 1999
9. कविता का यथार्थ - सं. डॉ. ए. अरविंदाक्षन  
हिन्दी विभाग  
कोच्चिन विज्ञान व  
प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय  
केरल  
वितरक-जवाहर  
पुस्तकालय  
मथुरा
10. कविता का थल और काल - डॉ. ए. अरविंदाक्षन  
किताबघर प्रकाशन  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 2001
11. कविता की लोक प्रकृति - जीवनसिंह  
बौद्धि प्रकाशन  
जयपुर
12. कविता और समय - अरुण कमल  
वाणी प्रकाशन  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 1999

13. कविता का आत्मपक्ष - एकान्त श्रीवास्तव  
प्रकाशन संस्थान  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 2006
14. कविता के साथ-साथ - विष्णुनागर  
मेधा बुक्स  
शाहदरा, दिल्ली-110032  
प्र.सं. 2004
15. कुंवरनारायण संसार-1  
(मेरे साक्षात्कार) - सं. यतीन्द्र मिश्र  
वाणी प्रकाशन  
प्र.सं. 2002
16. त्रिलोचन के बारे में - डॉ. गोविन्द प्रसाद  
वाणी प्रकाशन  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 1981
17. दर्शन, साहित्य और समाज - शिवकुमार मिश्र  
वाणी प्रकाशन  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 1992
18. दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र - शरणकुमार लिम्बाले  
वाणी प्रकाशन  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 2000

19. दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र - ओमप्रकाश वाल्मीकी  
वाणी प्रकाशन  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 2001
20. दुस्समय में साहित्य - शंभूनाथ  
वाणी प्रकाशन  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 2002
21. दुर्ग द्वार पर दस्तक - कात्यायनी  
परिकल्पना प्रकाशन  
लखनऊ-226010  
दू.सं. 1998
22. दूसरे शब्दों में - निर्मल वर्मा  
भारतीय ज्ञानपीठ  
नई दिल्ली  
प्र.सं. 1997
23. दूसरे नवजागरण की ओर - शंभूनाथ  
ज्ञानभारती  
दिल्ली-110007  
प्र.सं. 1993
24. धरती की पुकार - सुन्दरलाल बहुगुणा  
राधाकृष्ण प्रकाशन  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 1996

25. नैतिकता के नये सवाल - सं. राजकिशोर  
वाणी प्रकाशन  
नई दिल्ली  
प्र.सं. 2006
26. परम्परा, इतिहासबोध  
और संस्कृति - श्यामाचरण दबे  
राधाकृष्ण प्रकाशन  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 1992
27. परिवर्तन और विकास के  
सांस्कृतिक आयाम - पूरनचन्द्र जोशी  
राजकमल प्रकाशन  
नई दिल्ली-110002  
सं. 1999
28. फासीवाद - अयोध्यासिंह  
ग्रन्थशिल्पी  
नई दिल्ली-110092  
प्र.सं. 1980
29. बीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध - नरेन्द्र मोहन  
कादम्बरी प्रकाशन  
जवाहर नगर  
नई दिल्ली-110007  
प्र.सं. 1996
30. भारतीय संस्कृति - नरेन्द्र मोहन  
प्रभात प्रकाशन  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 1997

31. भूमण्डलीकरण की चुनौतियाँ - सच्चिदानन्द सिन्हा  
वाणी प्रकाशन  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 2003
32. मानव सभ्यता का विकास - रामविलास शर्मा  
वाणी प्रकाशन  
दिल्ली  
द्वि.सं. 1983
33. मुक्तिबोध रचनावली-5 - सं. नेमीचन्द्र जैन  
राजकमल प्रकाशन  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 1980
34. मुक्तिबोध के प्रतीक और बिम्ब - चंचल चौहान  
वाणी प्रकाशन  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 1997
35. मुक्तिबोध ज्ञान और संवेदना - नन्दकिशोर नवल  
राजकमल प्रकाशन  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 1993
36. मेरे समय के शब्द - केदारनाथ सिंह  
वाणी प्रकाशन  
नई दिल्ली  
प्र.सं. 1993

37. यथार्थ यथास्थिति नहीं - रघुवीर सहाय  
वाणी प्रकाशन  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 1994
38. रघुवीर सहाय का कविकर्म - सुरेन्द्र वर्मा  
अरुणोदय प्रकाशन  
नई दिल्ली-110032  
प्र.सं. 1992
39. शब्द और मनुष्य - परमानन्द श्रीवास्तव  
राजकमल प्रकाशन  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 1999
40. समकालीन हिन्दी कविता - डॉ. ए. अरविंदाक्षन  
राधाकृष्ण प्रकाशन  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 1992
41. समकालीन सिद्धान्त और साहित्य - विश्वम्भर नाथ उपाध्याय  
द मैकमिलन कंपनी ऑफ  
इंडिया लिमिटेड  
नई दिल्ली  
प्र.सं. 1976
42. समकालीन कहानी की पहचान - नरेन्द्र मोहन  
प्रवीण प्रकाशन  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 1987



43. समकालीन काव्य यात्रा - नन्दकिशोर नवल  
किताब घर  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 1992
44. संस्कृति और समाजवाद - सच्चिदानन्द सिंहा  
वाणी प्रकाशन  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 2004
45. संस्कृति के चार अध्याय - रामधारी सिंह दिनकर  
उदयाचल प्रकाशन  
पाटना  
सं. 1962
46. संस्कृति वर्चस्व और प्रतिरोध - पुरुषोत्तम अग्रवाल  
राधाकृष्ण प्रकाशन  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 1995
47. संस्कृति की उत्तर कथा - शंभूनाथ  
वाणी प्रकाशन  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 2000
48. सांस्कृतिक और राजनीतिक  
चिन्तन के बुनियादी सरोकार - अन्तोनियो ग्राम्शी  
ग्रन्थ शिल्पी के लिए सुभाष चौक  
दिल्ली-110092  
प्र. हिन्दी सं. 2002

49. साठोत्तरी हिन्दी कविता  
परिवर्तित दिशाएँ - विजयकुमार  
प्रकाशन संस्थान  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 1986
50. स्वप्न और यथार्थ  
आज़ादी की आधीसदी - पूरनचन्द्र जोशी  
राजकमल प्रकाशन  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 2000
51. स्त्रीत्व का मानचित्र - अनामिका  
सारांश प्रकाशन  
दिल्ली-110091  
प्र.सं. 1999
52. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली-9 - सं. मुकुन्द द्विवेदी  
राजकमल प्रकाशन  
नई दिल्ली-110002  
प्र.सं. 1981
53. हिन्दी साहित्यकोश - डॉ. धीरेन्द्रवर्मा  
ज्ञानमंडल लिमिटेड  
वाराणसी  
सं. 1963
54. Communal Threat and  
Secular Challenge - K.N. Paniker  
Earth Worm  
Madras  
Ed. 1997

55. The Idea of Culture - Terry Eagleton  
Blackwell  
London  
Ed. 2000
56. Encyclopedia Britannica Vol-3
57. Bharatheeya Chintna - K. Damodaran  
(Malayalam book) Kerala Bhasha Institute  
Thiruvananthapuram  
**Fifth Ed. 1998**

### पत्रिकाएँ

1. आलोचना - अप्रैल-जून 2000
2. आलोचना - जुलाई-सितंबर-2001
3. आलोचना - जनवरी-मार्च 2003
4. आलोचना - अप्रैल-जून-2003
5. कृति ओर - अंक-36 - अप्रैल-जून-2005
6. पहल-73 - जन-फर-2003
7. पहल-75 - सितंबर-नवंबर-2003
8. युद्धरत आम आदमी - जन-मार्च-2004
9. वर्तमान साहित्य - अप्रैल-मई-1992  
(कविता विशेषांक)
10. वर्तमान साहित्य - जून-2002
11. वसुधा-59-60 - अक्तूबर-मार्च-2004
12. वसुधा-61 - अप्रैल-जून-2006
13. हँस - मई-2002